CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नागरी प्रचारिणी
पत्रिका

7·/

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग १७—अंक ४

संपादक

श्यामसुंदरदास

सहायक संपादक

कृष्णदेवप्रसाद गौड़

—:※:—

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

माघ संवत् १९९३] [मूल्य प्रति संख्या २॥)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
११—भारतेंदुजी की भाषा और शैली [लेखक—श्री गोपाललाल खन्ना, एम० ए०, काशी]	३८७
१२—विविध विषय	४७३
१३—उत्तरकांड और श्री वाल्मीकि रामायण—[लेखक—ब्रह्मचारी श्री भगवदाचार्य, बड़ोदा]	४८६
१४—स्वर्गीय बारहट बालाबख्शजी पालावत [लेखक —पुरोहित श्री हरिनारायण शर्मा, बी० ए०, विद्याभूषण, जयपुर] ...	५०१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१२ मींठा मारणा १५७

र

१ रँगरूट १८६
२ राम कू प्यारा होणा १७०
३ (रात) पहाड़ होणा १२३
४ राँद काटणा २५
५ रीस आणा २२२
६ रौंद मचाणा / रौंद्ळ करणा ४०

ल

१ लगा लूतरी होणा ४८
२ लपेट्टे लेणा २२०
३ ंकारी २२३
४ लँढेर लियो फिरणा २९
५ लंगा होणा ८६
६ लाल तत्ता होणा १४६
७ लाल लटकणा १३२
८ लारे लगाणा २७
९ लाट्ठी ठाके घरो धरणा १६०
१० लाट्ठी सिम्हाळणा १५९
११ लाट्ठी उलाँख सौदा १६१
१२ लिकड़ी होट्ठों चढी कोट्ठों १९०
१३ लुटिया डूबणा १५४

स

१ सब कू एक ताड़ें हाँकणा २०९
२ सब दिन चंगी तिव्हार के दिन नंगी २१०
३ सरम की कोथळी १३१
४ साक्का करणा १९
५ साँग भरणा ४३
६ साँप की बामणी २६
७ सियों सैं गांडे खाणा १७
८ सिर कै चलणा ३७
९ सिर पै का ८१
१० सिर पै की उतरणा / सिर पै की रखणा ८०
११ सिर धरणा १८०
१२ सिर पै धरणा १७९
१३ सिंगल डौन होणा १६६
१४ सुक्के आँसू रोणा २०२
१५ सेर मैं पूणी भी नी १९६
१६ सैंद रूप करणा ३१

ह

१ हटैटा भरणा २२१
२ हड्डे पेलणा ७९
३ हाथ काटणा ९०
४ हेर फेर करणा / हेर फेर आणा ४
५ होस गादले करणा, होणा ३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(११) भारतेंदुजी की भाषा और शैली

[ले०—श्री गोपाललाल खन्ना, एम० ए०, काशी]

(१)

विषय-प्रवेश

पश्चिम की साहित्य-समीक्षा ने गद्य और पद्य में—Prose और Poetry में—बड़ा अंतर मान रखा है। वहाँ गद्य इतना नीरस और अलंकार-शून्य समझा जाता रहा है कि उसके मत से गद्य में काव्यत्व होता ही नहीं। वहाँ पद्य ही काव्य है और वही काव्य के गुण से संपन्न है। गद्य में काव्यत्व की कल्पना करना उसके लिये असंभव सा प्रतीत होता है। यही कारण है कि वहाँ प्रोज (Prose) शब्द से बना हुआ विशेषण प्रोजेयिक (Prosaic) नीरस का पर्याय होता है। पर हमारे यहाँ भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने काव्य के अंतर्गत गद्य और पद्य दोनों माने हैं। साहित्य-शास्त्र में गद्य-काव्य और पद्य-काव्य दोनों का उल्लेख मिलता है। गद्य और पद्य दोनों में काव्य के गुण आ सकते हैं। जिन रचनाओं में काव्य के गुण वर्तमान हों वे सभी काव्य के अंतर्गत आ जाती हैं। अतएव गद्य और पद्य काव्य के दो भेद माने गए हैं।

यद्यपि गद्य और पद्य काव्य के दो अंग हैं, तथापि दोनों में भेद है। पद्य वह है जिसमें पद हों, नपे-तुले चरण हों। ये छंदों के नियमानुसार बड़े या छोटे हो सकते हैं। भाव के अनुकूल इनमें न्यूनाधिक्य करना रचयिता की इच्छा पर निर्भर नहीं रहता। प्रत्येक चरण गण, मात्रा, वर्ण आदि की संख्या से परि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गणित होता है। जिस छंद में कवि रचना करना चाहता है, उसके नियमों के अनुसार ही उसे चलना पड़ता है। उसकी इच्छा, प्रवृत्ति या भाव छंद के चरणों में फेरफार नहीं कर सकते। छंदों के नियम ही प्रधान बने रहते हैं। अधिक शब्दों में जिन भावों की अभिव्यक्ति स्वाभाविक रूप से हो सकती है, उन्हें छंद के अनुरोध से थोड़े ही शब्दों में ठूँसकर प्रदर्शित करना पड़ता है। इससे कई भाव छूट जाते हैं, पद्य अस्पष्ट हो जाता है, उसमें क्लिष्टता आ जाती है और न्यूनपदत्व आदि न मालूम कितने दोष उसे घेर लेते हैं। जहाँ भाव किसी निर्वाचित छंद के कुछ ही अंश के द्वारा पूर्ण रीति से व्यक्त हो सकता है, वहाँ भी छंद के ही अनुरोध से भावाभिव्यंजक शब्दों के अतिरिक्त भरती के शब्द भरने पड़ते हैं, जिससे पुनरुक्ति आदि दोषों के अतिरिक्त शिथिलता और अप्रासंगिकता भी आ जाती है। इन बंधनों और नियमों से जकड़कर अपने भावों की स्वाभाविकता का गला घोंटना पड़ता है। रचयिता स्वतंत्रता-पूर्वक वाक्यों को उन चरणों में भावानुकूल घटा बढ़ा नहीं सकता। समस्या-पूर्ति में छंदों के इस बलात्कार का पूरा-पूरा दृश्य दिखाई देता है। प्रायः कवित्त का अंतिम चरण और चरणों की अपेक्षा अधिक सुंदर होता है; इसका कारण यही है कि चौथा तुक प्रायः भावानुगुण भाषा में ढला रहता है और शेष चरण छंद के अनुरोध से भरे जाते हैं। ऐसी रचना प्रायः उखड़ी हुई और शिथिल होती है। छंदोरचना में ऐसे सिद्धहस्त कवि कम ही होते हैं जो भावों को स्वाभाविकता के साथ छंदों के साँचे में ढाल सकते हों।

गद्य में इन सब कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता। गद्य में पद्य की तरह नपे-तुले चरण नहीं होते, केवल स्वाभाविक वाक्य होते हैं। इनकी रचना के नियम बहुत कुछ रचयिता की स्वभाव-निरीक्षक-बुद्धि के आश्रित होते हैं। उसमें स्वाभाविक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाक्यों की जैसी परख होगी, उनको शब्दों में ढालने की जैसी क्षमता होगी, उसी के अनुसार वह अकृत्रिम रूप से मनोहर वाक्यों की रचना कर सकेगा। इस प्रकार गद्य-लेखक को पद्य-रचना के बहुत से प्रतिबंधों से बहुत कुछ फुरसत रहती है। लेखक भाव के अनुकूल वाक्य को छोटा या बड़ा कर सकता है। वह भाव की अपूर्णता या भरती के शब्दों की ठूँस-ठाँस से बचा रहता है। पद्य में साँचे के अनुसार भावों को संकुचित या विस्तृत करना पड़ता है, पर गद्य में इच्छानुसार सुंदरता से यथावकाश बैठाया जा सकता है। लेखक को गद्य में पद्य की अपेक्षा अधिक स्वतंत्रता रहती है। वह स्वच्छंदतापूर्वक गद्य में अपना कौशल दिखा सकता है। इस स्वच्छंदता के विस्तृत क्षेत्र में मनमाने ढंग से उछल-कूद मचाकर यदि वह स्वाभाविकता की रक्षा कर सके, तो यह उसकी प्रशंसा की बात है। अन्यथा उसे अपना दोष अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, किसी परवशता के सिर वह न मढ़ा जा सकेगा।

बोलचाल में जिस स्वाभाविकता से हम शब्दों का प्रयोग करते हैं, गद्य में वही पूर्ण रूप से अपेक्षित होती है। भावों को प्रकट करने में छंद की छोटाई-बड़ाई के अनुसार हमें शब्द ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती। भावों के अनुकूल शब्द यदि आप ही आप सम्मुख उपस्थित हों तो ठीक है, नहीं तो लेखक की कलई खुल जाती है और स्वाभाविकता की रक्षा न होने से रचना उत्तम नहीं रह जाती। गद्य का सबसे बड़ा गुण बोलचाल की सी स्वाभाविकता है। गद्य में पद्य की सी अस्वाभाविकता आने ही न देनी चाहिए। यदि आ गई तो वह लेखक का दोष है, उसके लिये कोई बहाना काम न दे सकेगा। गद्य का अर्थ ही है कही जानेवाली बात। इसका तात्पर्य यह है कि जिस तरह बातचीत में बोलचाल के शब्दों का स्वाभाविक प्रयोग होता है, उसी तरह गद्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में भी होना चाहिए। गद्य कहने की वस्तु है और पद्य पढ़ने की। गद्य में कथन हो सकता है—पद्य सा पठन नहीं। दुरूहता, अस्पष्टता, क्लिष्टता आदि दोष पद्य में स्थान पा सकते हैं, गद्य में नहीं।

भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने गद्य को इतना महत्त्व दिया है कि उसे कवि की शक्ति की परिचायक कसौटी माना है—गद्यं कवीनां निकषं वदंति। तेली का बैल संकुचित परिधि के अंदर चक्कर लगाकर कृतार्थ हो सकता है, पर विस्तृत क्षेत्र में अपना गति-कौशल दिखाना और फिर भी कहीं से न उखड़ना किसी ऐराकी का ही काम है। गद्य का व्यवहार प्रतिदिन होता है। गद्य के बिना काम चल ही नहीं सकता। प्रतिदिन की पद्धति में ही जो प्रवीण न होगा वह प्रतिबंधों में पड़कर क्या कौशल दिखावेगा?

सर्वसाधारण के दैनिक व्यापारों में गद्य का ही व्यवहार होता है। गद्य के बिना किसी मनुष्य-समाज का काम नहीं चल सकता। बोलचाल में गद्य ही काम आता है, पद्य नहीं। गद्य का व्यवहार साहित्य में भी हम आदिकाल से पाते हैं। वेदों में यजुर्वेद गद्य में ही है। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि भी बड़ी सुंदर शैली के गद्य में लिखे गये हैं। महाभाष्य की गद्य-शैली अनुपम है। उसमें बोलचाल की ऐसी सजीवता पाई जाती है कि संस्कृत पर कृत्रिमता का लांछन लगानेवाले भी उसे देखकर अपना मत बदल सकते हैं। चरक का गद्य भी बहुत ही उच्च कोटि का है। शंकराचार्य की गद्य-शैली अपनी प्रांजलता के लिये प्रसिद्ध है। शारीरक-भाष्य के टीकाकार वाचस्पति मिश्र की शैली का चमत्कार भामती की एक एक पंक्ति में दिखाई देता है। पाली भाषा में लिखित बौद्धों के जातक और अर्धमागधी में लिखित जैनों के सूत्र भी गद्य ही में हैं। नाटकों में गद्य का प्रयोग है ही। यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो हुई संस्कृत-साहित्य की बात, अब यदि देशभाषा पर दृष्टि दें तो नागर अपभ्रंश ऐसी देशभाषा है जो गद्य और पद्य दोनों के लिये बहुत बड़े प्रदेश में व्यापक रूप से व्यवहृत होती थी। आठवीं शताब्दी की कुवलयमाला-कथा इसी अपभ्रंश में लिखी हुई है। इसकी भाषा बड़ी ही स्वाभाविक और मुहावरेदार है। इसके पश्चात् मुसलमानी शासन-काल तक हमें गद्यग्रंथों का अभाव सा ही दिखाई देता है। फिर आजकल अँगरेजी शासन-काल में तो गद्यग्रंथों का ही बाहुल्य है।

मध्यकाल में अर्थात् आठवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक गद्य-ग्रंथों की रचना न होने का कारण राजनीतिक हलचल मालूम होती है। साहित्य में तत्कालीन समाज की अवस्था का प्रतिबिंब रहता है। जैसी अवस्था समाज की होती है, वैसे ही साहित्य का निर्माण होता है। जनता की रुचि के अनुसार साहित्य उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट हुआ करता है। साहित्य की यही पिछली अवस्था हमें प्रायः इन एक हजार वर्षों में मिलती है। हर्ष के उपरांत सारे भारतवर्ष का कोई एक सम्राट् नहीं हुआ। अनेक खंड-राज्य स्थापित होते रहे जो किसी एक सत्ता के अधीन नहीं रहना चाहते थे।

खंड-राज्य के साथ ही साथ भाषा का साम्राज्य भी खंडित हो गया। कोई ऐसी राजभाषा या राष्ट्रभाषा न थी जो सब प्रांतों में व्यवहृत होती। हर प्रांत की जनता अपनी प्रांतीय भाषा का ही व्यवहार करती थी। प्रांतीय भाषा का प्रचार बिना किसी राजभाषा के समस्त देश में नहीं होता। इसी कारण प्रांतीय भाषा में लिखित ग्रंथ सर्वदेशीय प्रसिद्धि नहीं पा सके। ग्रंथकर्त्ता प्रायः अपने ग्रंथों का निर्माण अल्पजनबोध्य-भाषा में नहीं करते। जो ग्रंथ प्रांतीय भाषा में लिखे जाते हैं वे प्रसिद्ध न होने के कारण लुप्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो जाते हैं। स्थायी साहित्य के लिये सुबोध एवं अधिकजनबोध्य भाषा की आवश्यकता रहती है। गद्य-ग्रंथों के अभाव का कारण एक तो यही था कि उस समय कोई ऐसी योग्य भाषा न थी जिसमें ग्रंथ लिखे जाते और उनका व्यापक क्षेत्र में प्रचार होता; क्योंकि नागर अपभ्रंश भी अमरवाणी होकर जैनों के कुछ धर्म-ग्रंथों ही में प्रयुक्त होती थी। दूसरे, उस समय पद्य की ओर रुचि अधिक बढ़ रही थी। मांडलिक राजा अपनी प्रशंसात्मक कविताओं का अधिक आदर करते थे। कवि भी चाटुकारिता में प्रवीण होते जाते थे। कवि जिन अलंकारों और चमत्कारों आदि से अपने अपने आश्रय-दाता राजाओं को प्रसन्न कर सकते थे, वे पद्य में ही संभव थे। गद्य में पद्य का सा वह अलंकार या चमत्कार नहीं दिखाया जा सकता, जो उस समय की रुचि के अनुकूल होता। इससे कविता-कामिनी ने अपने उच्च पद से गिरकर केवल व्यक्ति-रंजन का काम उठा लिया। कवि केवल राजा की शूरवीरता आदि की ही प्रशंसा किया करते थे। परंतु धीरे धीरे उनकी विलास-प्रियता की भी प्रशंसा शुरू हुई और कवियों के आदर्श भी बदलते गए।

मुसलमानी राज्यकाल में शृंगाररस की कविता का ही आधिक्य रहा। इस समय की कविता प्रायः ब्रजभाषा में लिखी जाती थी। ब्रजभाषा कुछ तो धार्मिक आधार के बल पर, कुछ अपनी स्वाभाविक मधुरता के कारण और कुछ व्यापक नागरा-पभ्रंश से विकसित राजस्थानी भाषा से समानता रखने के कारण एक विस्तृत क्षेत्र में काव्यभाषा के रूप में प्रयुक्त होती थी। उत्तरी भारत की ब्रज, बंगाल की ब्रजबुलि और राजपूताने की पिंगल आदि सब एक ही भाषा थीं।

यह सब होते हुए भी गद्य का सर्वथा त्याग न हो सका। उसका व्यवहार साधारण व्यापारों में होता ही था। जनता का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कार्य तो बिना गद्य के चल ही नहीं सकता। सब लोग पिंगल-शास्त्र के ज्ञाता या आशु-कवि तो होते नहीं कि वार्तालाप तथा अन्य व्यापार पद्य में ही करते। तथापि इन हजार वर्षों में कविता या पद्य-रचना का इतना अधिक जोर था कि गद्य-रचना बहुत ही कम हुई। जो कुछ गद्य-रचना हुई भी वह उसी काव्य-भाषा—ब्रजभाषा—में। चौदहवीं शताब्दी के गोरखनाथ के कुछ ग्रंथ, गंग की चंद छंद बरनन की महिमा, तथा सत्रहवीं शताब्दी की वार्ताएँ आदि ऐसी ही पुस्तकें हैं जिनमें ब्रजभाषा व्यवहृत हुई है।

जब मुसलमान हिंदुस्तान में आए, तब उन्हें इस ब्रजभाषा के अतिरिक्त दिल्ली-प्रांत के आसपास की बोली भी मिली। मुसलमानों की भाषा और इसी प्रांतीय बोली के मेल से उर्दू की उत्पत्ति हुई और यही उनकी राजभाषा हुई। उर्दू में ही सब कार्य होने लगे। मुसलमानों के साथ साथ उर्दू भी अन्य प्रांतों में फैलने लगी। इस प्रकार प्रायः संपूर्ण साम्राज्य में उर्दू का प्रचार हो चला। यद्यपि आरंभ में उर्दू भाषा में साहित्यिक गद्य का निर्माण नहीं हुआ, तथापि राजपुरुष इसी का व्यवहार करते थे। अँगरेजों के भारतवर्ष में आने के पूर्व इस भाषा में अनेक ग्रंथ बन चुके थे। उर्दू का गद्य बहुत कुछ मँज भी गया था और भाषा भी परिष्कृत हो चली थी। अँगरेजों ने यहाँ आकर देखा कि बिना जनता की भाषा का ज्ञान प्राप्त किए राजकार्य चलाना कठिन है। उन्होंने इसके लिये कलकत्ते में शिक्षालय स्थापित किया और गद्य-ग्रंथों के लिये लेखक नियुक्त किए। मुसलमानों के समय में केवल उर्दू के गद्य का ही निर्माण हुआ था, अँगरेजों ने उर्दू और हिंदी दोनों को एक-सा स्थान दिया। उर्दू भाषा का व्यवहार बहुत दिनों से होता आया था और मुसलमानों को उससे प्रेम भी हो गया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

था। वे उसी का पक्ष लेते थे और हिंदी का प्रश्न आने पर 'मुश्किल ज़बान' कहकर उसका तिरस्कार किया करते थे। अँगरेजों को मालूम हो गया कि सारे देश में उर्दू का प्रचार होने में बहुत कठिनाइयाँ हैं। वे यह भी जान गए थे कि हिंदी जनसाधारण की भाषा है। उन्होंने हिंदी के प्रचार में सुविधाएँ उत्पन्न कीं। पर इस मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ भी उपस्थित हुईं, जिनका सामना राजा शिवप्रसाद को करना पड़ा था। राजा शिवप्रसाद शिक्षालयों में हिंदी भाषा का प्रवेश कराना चाहते थे। उर्दू-वाले हिंदी को संस्कृत के शब्दों के कारण 'मुश्किल ज़बान' कहा करते थे। अतः राजा साहब को हिंदी और उर्दू की विभिन्नता मिटाने के लिये ऐसी भाषा का प्रयोग करना पड़ा जिसमें उर्दू के चलते हुए शब्दों का अधिक प्रयोग हो। तब जाकर कहीं वह शिक्षा-क्रम में स्थान पा सकी। इसका फल यह तो हुआ कि हिंदी और उर्दू को समान स्थान मिल गया, परंतु हिंदी शुद्ध हिंदी न रह गई। वह केवल देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली एक प्रकार की उर्दू ही रही जिसे आजकल हिंदुस्तानी कहते हैं। हिंदी अपना स्वदेशीपन छोड़कर विदेशीपन में रँग रही थी। यह परिवर्तन उस समय के अन्य हिंदी-प्रेमियों तथा साहित्य-सेवियों को अच्छा न लगा। यह बात खटकी तो बहुत से लोगों को परंतु इसके सुधार के अगुआ राजा लक्ष्मणसिंह ही बने। उन्होंने संस्कृत शब्दों से मिली हुई विशुद्ध हिंदी को अपनाया। यह एकाएक हिंदी का परिवर्तित रूप जनता में प्रचलित न हो सका। आवश्यकता तो एक ऐसी भाषा की थी जो जनता की रुचि के अनुकूल होती। इन दोनों राजा साहबों ने जनता की रुचि की ओर ध्यान न दिया। संभव था कि इस खींचातानी में उर्दू बाजी मार ले जाती। पर ईश्वर को यह स्वीकृत न था, वह तो कुछ और ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना चाहता था। वह भारती को विदेशियों के हाथ बेचना नहीं चाहता था। उसने इस संकट से भारती की रक्षा करने के लिये भारतेंदुजी को भेजा।

(२)

भारतेंदु का उदय

भारतेंदुजी का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ था जब कि हिंदी बड़े संकट में पड़ी थी। उस समय उर्दू और फारसी का बोलबाला था। हिंदी के लिये न कहीं स्थान था और न उसका कोई रूप ही स्थिर हुआ था। उर्दू अदालत की भाषा तो स्वीकृत हो ही गई थी और आरंभिक शिक्षालयों में भी उसका प्रवेश हो रहा था। जब भाषा की शिक्षा का प्रश्न सम्मुख आया, तब फिर उर्दू-प्रेमियों ने जोर बाँधना शुरू किया। सर सैयद अहमद खाँ ने इसके लिये बड़ा उद्योग किया कि प्रारंभिक शिक्षा भी उर्दू में ही दी जाय, परंतु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। हिंदी के भाग्य-ग्रह अच्छे थे। हिंदी की ओर से लड़नेवाले राजा शिवप्रसाद ने अपने सतत परिश्रम से हिंदी को पाठ्य-विषयों में स्थान दिलवाया तथा शिक्षा का माध्यम स्वीकृत करवाया।

इतना सब कुछ होने पर भी हिंदी की अवस्था न सुधरी। हिंदी भाषा और साहित्य की अवस्था बड़ी चिन्ताजनक थी। हिंदी का साहित्य बहुत क्षीण था। पद्य को छोड़कर गद्य में पुस्तकें नहीं के बराबर थीं। जो थीं भी वे बालकों के पढ़ने योग्य न थीं। पाठ्य-पुस्तकों का अभाव राजा शिवप्रसाद के परिश्रम को निष्फल करने के लिये पर्याप्त था। सैयद इंशाउल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी', लल्लूजी लाल का 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' इस अभाव को किसी प्रकार भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूरा नहीं कर सकता था। इन गिनी तीन पुस्तकों से कहीं पाठ्य-पुस्तकों का अभाव पूरा हो सकता था? इस अभाव को पूरा करने के लिये राजा साहब ने स्वयं कुछ पाठ्य पुस्तकें लिखीं और कुछ अपने मित्रों से लिखवाईं; क्योंकि साहित्य के इस अंग की पुष्टि सर्वप्रथम आवश्यक समझी गई। साहित्य के साथ साथ हिंदी भाषा भी बड़े संकट में थी। हिंदी भाषा का कोई रूप निश्चित न था। लेखकों की कृतियों में प्रांतीयता की प्रधानता रहती थी। इसके कारण भाषा और शैली में बड़ा भेद रहता था। सैयद इंशाउल्ला खाँ की हिंदी लखनवी हिंदी होती थी, लल्लूजी लाल की व्रज-रंजित और सदल मिश्र की पंडिताऊ। इन तीनों लेखकों की पुस्तकें देखने से यह बात प्रकट हो जाती है। इनके प्रांतीयता के मोह और इनके संस्कार ने इनकी शैली और भाषा को दूसरों के लिये आकर्षक न होने दिया। इसके अतिरिक्त गद्य में अनुप्रास की प्रवृत्ति भी थी। गद्य को पद्य के अलंकारों से सर्वथा मुक्त कर देना, ये लोग गद्य की शोभा घटाना समझते थे और गद्य को अलंकृत करने का प्रयत्न करते थे। हाथ में कलम लेने पर गद्य के गुणों को भूल जाते थे। गद्य में बोलचाल की परिष्कृत भाषा का ही प्रयोग होना चाहिए। उसमें शब्दालंकारों का चमत्कार दिखाना उपयुक्त नहीं है। परंतु ये संस्कृत के उस आदर्श को न छोड़ सके, जिसकी परंपरा कादंबरी से चली आ रही थी। वाक्य-खंडों के अथवा वाक्यों के अंत में तुकबंदी का प्रयोग किया करते थे। उदाहरण के लिये नीचे दिए हुए अंश देखिए।

(१) "सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनानेवाले के सामने जिसने हम सबको बनाया और बात की बात में वह कर दिखलाया जिसका भेद किसी ने न पाया।"

[इंशा०

Ganesh Varṇi Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२) "विन्हें यों समुझाय पुनि महावत को बुलाय के बोला कि तेरे वश में मतवाला हाथी है, तू द्वार पर लिए खड़े रहियो। जद वे दोनों आवें और वार में पाँव दें, तद तू हाथी से चिरवा डालियो, किसी भाँति भागने न पावें।"

[लल्लू०

(३) "इस प्रकार से विनती किए पर चित्रगुप्त की आज्ञा ले दूतों ने नासिकेत को ले जा स्वर्ग नरक जहाँ पुण्य-पाप के फल पावते हैं दिखा-सुना प्रसन्न कर फिर चित्रगुप्त को कहते हुए धर्मराज के पास ले आय खड़ा कर दिया।"

[सदल०

भाषा में जिस कारण शैली के ये दोष आ गए थे, राजा साहब उसको दूर करना चाहते थे। उन्होंने पाठ्य-पुस्तकों की कमी को पूरा करके अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहा, पर उसका उपाय और भी कठिन था। यद्यपि राजा शिवप्रसाद विद्याव्यसनी और हिंदी के पक्षपाती थे, पर थे वे वस्तुतः उर्दू के अभ्यासी। कई कारणों से वे लिपि के अतिरिक्त भाषा-क्षेत्र से उर्दू को एकदम निकालना नहीं चाहते थे। इसी कारण से उनकी भाषा में उर्दू शब्दों का आधिक्य रहता था तथा उनकी रचना भी उर्दू के ढंग की ही होती थी। नमूना देखिए—

(१) "हुमायूँ के भागने पर इस मुल्क का बादशाह शेरशाह हुआ। कामराँ के काबुल चले जाने पर पंजाब भी जा दबाया। और झेलम पर एक पहाड़ी पर रोहतास उसी नाम का और वैसा ही मज़बूत एक किला बनाया। कि जैसा उसकी जनम-भूमि बिहार में था।"

[इति० ति० ना०—भाग १—४५

(२) "जो ख़बर साबिक़ में काबिल एतबार न थी हरकारा अब उसको मज़बूती से बयान कर्त्ता है और बेशक आज तक ऐसी ख़बर अजीब और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi.

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वारदात ग़रीब न किसी ने सुनी होगी और न देखी कि दो साहेबान अहल विलायत फ़िरंग ने अपना काम तर्क कर्के डाकाज़नी का तरीका इख़्तियार किया है।"

[बना० अख०—१६०६

इन नमूनों को देखकर पाठक यह अनुमान कर सकते हैं कि राजा शिवप्रसाद में सरल शुद्ध हिंदी लिखने की योग्यता ही न थी। वास्तव में बात इसके विपरीत थी। राजा साहब शुद्ध सरल हिंदी लिख सकते थे और उन्होंने लिखी भी है। साथ ही साथ उन्होंने गद्य को पद्य की तरह अलंकृत भी किया है। लल्लूजी लाल, इंशाउल्लाखाँ आदि की तरह ये भी कभी कभी तुकबंदी कर दिया करते थे। यह प्रवृत्ति उर्दू और हिंदी दोनों तरह की शैली में मिलती है। उर्दू का नमूना तो आप देख ही चुके हैं, अब सरल हिंदी का देखिए।

(१) "राजा यह सुनकर अत्यंत प्रसन्न हुआ। यह तो मानो उसके मन की बात थी। पुण्य कर्म के नाम ने उसके चित्त को कमल सा खिला दिया। उसे निश्चय था कि पाप तो मैंने चाहे किया हो चाहे न किया हो, पर पुण्य मैंने इतना किया है कि भारी से भारी पाप भी उसके पासंग में न ठहरेगा।"

[राजा भोज का सपना—६

(२) "बड़े बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते। सेना उसकी समुद्र की तरंगों का नमूना और खजाना उसका सोना चाँदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया। कोई उसके राज्य भर में भूखा न सोता और न कोई उघाड़ा रहने पाता। जो सत्तू माँगने आता उसे मोतीचूर मिलता और जो गजी चाहता उसे मलमल दी जाती। पैसे की जगह लोगों को अशर्फियाँ बाँटता और मेंह की तरह भिखारियों पर मोती बरसाता।"

[राजा भोज का सपना—१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पहला नमूना देखने से ही यह प्रकट हो जाता है कि कैसी सरल हिंदी वे लिख सकते थे। आजकल तो छोटे बालकों की पाठ्य-पुस्तकों को छोड़कर उत्तम कोटि के लेखों में ऐसी सुंदर भाषा और शैली दिखलाई भी नहीं पड़ती। यदि ऐसी शैली होती तो आज हमारा साहित्य बहुत उन्नत होता। दूसरे नमूने में उनकी सरल हिंदी तो मिलती ही है, पर साथ ही साथ उनकी अनुप्रास-प्रियता भी प्रकट होती है। यह तो स्पष्ट ही है कि राजा शिवप्रसाद सरल हिंदी लिख सकते थे, परंतु अधिकतर वे उर्दू-मिश्रित भाषा ही लिखा करते थे।

इस प्रकार की उर्दू-मिश्रित शैली का विरोध करनेवाले राजा लक्ष्मणसिंह थे। राजा लक्ष्मणसिंह को राजा शिवप्रसाद की यह दुरंगी चाल पसंद न थी। वे शुद्ध हिंदी के पक्षपाती थे। इनकी भाषा सरस और संस्कृतमय होती थी। इसका प्रत्यक्षीकरण उनकी भाषा के निम्नलिखित अंश से हो जाता है।

"याचक तो अपना अपना वांछित पदार्थ पाकर प्रसन्नता से चले जाते हैं परंतु जो राजा अपने अंतःकरण से प्रजा का निर्धार करता है नित्य चिंता ही में रहता है। पहले तो राज्य बढ़ाने की कामना चित्त को खेदित करती है फिर जो देश जीतकर वश किए उनकी प्रजा के प्रतिपालन का नियम दिन-रात मन को विकल रखता है, जैसे बड़ा छत्र यद्यपि घाम से रक्षा करता है परंतु बोझ भी देता है।"

[शकुंतला नाटक—अंक ५

हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में इस समय हमें दो प्रकार की शैलियाँ दिखलाई देती हैं। राजा शिवप्रसाद की उर्दू मय हिंदी और राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृतमय। दोनों के आदर्श एक दूसरे के विरोधी थे। दोनों दो भिन्न धाराओं में बहते थे। दो भिन्न आदर्शों का समाज के द्वारा स्वीकृत होना कठिन होता है। अतः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उस समय इस प्रकार की शैलियाँ व्यवहार में न आईं। लेख के आवश्यक अवयव हैं—भाव, भाषा और रूप। हृदयस्थ भाव भाषा द्वारा प्रकट किए जाते हैं। भाव सुबोध हों, इसके लिये यह आवश्यक है कि भाषा को ऐसा रूप दिया जाय जो सर्व-साधारण की समझ में आ जाय। लेख ऐसी भाषा में न होना चाहिए जिसे पाठक न समझ सकें। लेखक दूसरों के लिये लेख लिखता है न कि अपने लिये। अतः यह आवश्यक है कि लेखक अपने भाव सरल और सुबोध भाषा में लिखे। सरल और सुबोध भाषा में बोलचाल के शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। अभी तक लेखकों की दृष्टि इस ओर नहीं गई थी। भारतेंदुजी को यह बात विशेष रूप से खटकी। अन्य-प्रांतवासियों को भी इसका अनुभव हो रहा था। वे एक सहज और सरल भाषा चाहते थे। अरबी-फारसी या संस्कृत-प्रधान भाषा ऐसी न थी जिसका प्रचार सर्वसाधारण में हो सकता। भारतेंदुजी ने जिस शैली को चुना उसमें ये दोष न थे। वह लोगों की रुचि के अनुकूल थी, इससे जनता ने अनायास ही उसे अपना लिया। वह उनके व्यवहार में आने लगी और साहित्य-रचना भी उसी में होने लगी।

भारतेंदुजी की शैली बड़ी सरल, सहज और सुंदर थी। यही कारण था कि उसका प्रचार अन्य प्रांतों में भी इतने थोड़े समय में हो गया। सब जगह सब लोग अरबी-फारसी या संस्कृत समझनेवाले नहीं मिलते। जनसाधारण में सरल और बोधगम्य भाषा का ही प्रचार होता है। इस भाषा में प्रधानता बोलचाल के शब्दों की ही रहती है। अन्य भाषाओं के शब्द विकृत रूप में रहते हैं। तत्सम शब्दों का एक प्रकार से अभाव ही रहता है। भारतेंदुजी की भाषा ऐसी ही बोलचाल की थी। उसमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न तो अरबी-फारसी के तत्सम शब्द रहते थे और न संस्कृत के ही। भारतेंदुजी के विचार से भाषा में संस्कृत के वे ही प्रचलित शब्द, जिनका व्यवहार प्रतिदिन होता था, और उर्दू के वे शब्द, जिनको हिंदी ने अपना लिया था, प्रयुक्त हो सकते थे। परंतु अधिकता किसी की भी न हो। उनके विचार में वही भाषा लिखने योग्य थी 'जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं' और 'जो शुद्ध हिंदी है'। इनके नमूने ये हैं—

(१) 'जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं।'

"सब विदेशी लोग घर फिर आए और व्यापारियों ने नौका लादना छोड़ दिया। पुल टूट गए बाँध खुल गए पंक से पृथ्वी भर गई पहाड़ी नदियों ने अपने बल दिखाए बहुत वृक्ष समेत कूल तोड़ गिराए सर्प बिलों से बाहर निकले महानदियों ने मर्यादा भंग कर दी और स्वतंत्र स्त्रियों की भाँति उमड़ चलीं।

(२) 'जो शुद्ध हिंदी है।'

"पर मेरे पीतम अब तक घर न आए। क्या उस देश में बरसात नहीं होती या किसी सौत के फंदे में पड़ गए कि इधर की सुध ही भूल गए? कहाँ तो वह प्यार की बातें कहाँ एक संग ऐसा भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना। हा! मैं कहाँ जाऊँ, कैसी करूँ मेरी तो ऐसी कोई मुँहबोली, सहेली भी नहीं कि उससे दुखड़ा रो सुनाऊँ, कुछ इधर-उधर की बातों ही से जी बहलाऊँ।"

इन नमूनों में से भारतेंदुजी ने शुद्ध हिंदीवाले नमूने को अधिक अपनाया है और अपने लेख और नाटक इसी शैली में लिखे हैं। पहले नमूने की शैली उनके ऐतिहासिक और विवेचनात्मक लेखों में मिलती है। उन्होंने दोनों प्रकार की शैलियाँ अपनाई, परंतु दो तरह से। विवेचनात्मक, विचारपूर्ण, गंभीर विषयों के लिये पहले प्रकार की शैली निश्चित की, जिसमें संस्कृत के कुछ ही शब्द होते थे और साधारण तथा सरल विषयों के लिये शुद्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिंदीवाली शैली। अतः भारतेंदुजी बोलचाल के शब्दों का अधिक प्रयोग करते थे। उनकी शैली बोलचाल की थी। इसी शैली का वे प्रचार करना चाहते थे। इसके लिये उन्होंने कुछ समाचार-पत्र और मासिक पत्रिकाएँ भी निकाली थीं। आरंभ में तो इनमें भारतेंदुजी के लेख ही अधिक रहते थे, परंतु ज्यों ज्यों उनकी शैली का प्रचार बढ़ता गया, त्यों त्यों लेखक उत्पन्न होते गए और उनके लेख भी उनमें निकलने लगे।

प्रत्येक लेखक की एक विशेष प्रकार की शैली होती है। उसमें उसके व्यक्तित्व की छाप वर्तमान रहती है। चाहे लेखक कितना ही सच्चा अनुकरण या अनुवाद करे, पर वह इस दोष से बच नहीं सकता। उसका व्यक्तित्व उसमें रहता ही है। यही बात भारतेंदुजी के समकालीन लेखकों में भी पाई जाती है। यद्यपि उन लेखकों ने भारतेंदुजी की शैली ही को अपना आदर्श माना, परंतु वे उसका पूर्णतया अनुकरण न कर सके। सबकी शैली में एक दूसरे से कुछ न कुछ विभिन्नता और विचित्रता रहती ही है। लाला श्रीनिवासदास उनके समकालीन लेखकों में थे। भारतेंदुजी ने साधारण लेखों में बोलचाल की ही भाषा का प्रयोग उत्तम ठहराया था, परंतु दासजी की शैली में संस्कृत के शब्द अधिक रहते थे और उर्दू के शब्द नहीं के बराबर। नमूना देखिए—

"स्वदेशाभिमानी पुरुषों को उचित है कि जहाँ तक हो सके अपनी 'नामवरी' का लालच छोड़कर अपने जाने हुए पदार्थों को विदित करने में तथा औरों के अनुमानिक पदार्थों को सिद्ध करने में श्रम करैं, अपनी बुद्धि का अभिमान त्यागकर अन्य देश-निवासियों के उत्तम गुण ग्रहण करैं, सब बातों का सारांश निकालैं; इँगलिस्तानवालों ने ये पद प्राप्त किया, जो वे लोग हमारी भाँति अपनी विद्या को गुप्त रखते, तो रेल और तार जो बहुत से बुद्धिमानों के परिश्रम का फल है कभी दृष्टि न आते।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस नमूने से यह प्रत्यक्ष है कि इस प्रकार की शैली भारतेंदुजी के आदर्शानुकूल न थी। इसमें न तो बोलचाल के शब्द ही हैं जो इसको सरल बनाते और न बोलचाल सी सजीवता ही। इसके ठीक विपरीत हमको पं० प्रतापनारायण मिश्र की शैली मिलती है। यद्यपि इनके लेखों में संस्कृत के तत्सम शब्द आए थे, परंतु उर्दू के वे ही शब्द रहते थे जिनको हिंदी ने अपना लिया था। यह सब होते हुए भी उनकी शैली शुष्क, नीरस नहीं है। उसके पढ़ने में आनंद आता है। उसमें बोलचाल की सी सजीवता भरी रहती है। निम्नोल्लिखित नमूने इस कथन की पुष्टि करते हैं।

(१) "परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब कुछ उठा दीजिए तो क्या भीख माँग करके प्रतिष्ठा, अथवा चोरी करके धर्म खोइएगा, वा भूखों मर के आत्महत्या के पाप भागी होइएगा। यों ही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है, पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो उसे राजा से दंड दिलवाइए वा आप ही उसका दमन कर दीजिए तो अनेक लोगों के हित का पुण्य-लाभ होगा।

(२) घी बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर पी लीजिए तो उठने-बैठने की शक्ति न रहेगी और संखिया, सींगिया आदि प्रत्यक्ष विष है, किंतु उचित रीति से शोधकर सेवन कीजिए तो बहुत से रोग-दोख दूर हो जाएँगे। यही लेखा धोखे का भी है। दो एक बार धोखा खाके धोखेबाजों की हिकमतें सीख लो, और कुछ अपनी ओर से झपकी-फुदनी जोड़कर 'उसी की जूती उसी का सिर' कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली वरंच 'गुरु गुड़ ही रहा चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे।"

[धोखा (लेख) —

पंडित प्रतापनारायण मिश्र से मिलती-जुलती शैली हमें पंडित बालकृष्ण भट्ट की मिलती है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि इन दोनों की शैली भारतेंदुजी की शैली से बहुत दूर जा पड़ती है, फिर भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भट्टजी में बोलचाल की सजीवता और चलतापन मिश्रजी की अपेक्षा अधिक मिलता है। इसका कारण यह है कि मिश्रजी की अपेक्षा भट्टजी बोलचाल के चलते शब्दों का अधिक प्रयोग करते थे। प्रत्येक व्यक्ति की शैली में एक विचित्र विशेषता होती ही है। यही बात भट्टजी में थी। उनके कहने का ढंग ऐसा सरस और सजीव होता था कि वह शुष्क हृदय को भी अनुरंजित कर देता था। नमूना देखिए।

"जहाँ आदमी को अपनी जिंदगी मजेदार बनाने के लिये खाने, पीने, चलने, फिरने आदि की जरूरत है वहाँ बातचीत की भी हमको अत्यंत आवश्यकता है। जो कुछ मवाद या धुवाँ जमा रहता है वह बातचीत के जरिए भाफ बनकर बाहर निकल पड़ता है। चित्त हलका और स्वच्छ होकर आनंद में मग्न हो जाता है। बातचीत का भी एक खास तरह का मजा होता है। जिनको बातचीत करने की लत पड़ जाती है वे इसके पीछे खाना-पीना भी छोड़ बैठते हैं। अपना बड़ा हर्ज कर देना उन्हें पसंद आता है पर बातचीत का मजा नहीं खोया चाहते।"

[बातचीत (लेख)—

इन सबसे भिन्न शैली हमको पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'जी की मिलती है। इनकी शैली सबसे निराली थी। वह किसी से मेल नहीं खाती। लखनऊ की उर्दू के समान इन की हिंदी थी। अर्थात् जिस प्रकार लखनऊ की उर्दू में अरबी और फारसी के शब्दों का आधिक्य रहता है, उसी प्रकार चौधरीजी की हिंदी में संस्कृत के तत्सम शब्दों की भरमार रहती थी। वे बोलचाल के शब्दों का प्रयोग बहुत कम करते थे। इसी कारण चौधरीजी की शैली भारतेंदुजी की शैली के अनुरूप तो नहीं ही थी, साथ ही साथ एक और दोष होने के कारण वह सरल और चलती हुई भी नहीं होती थी। वह दोष यह था कि वे गद्य-रचना को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक कला के रूप में ग्रहण करते थे। उसे वे कलम की कारीगरी समझते थे। वाक्य कभी कभी इतने लम्बे लिखते थे कि पाठक उसी में उलझे रह जाते थे। यद्यपि काट-छाँट से वस्तु सुंदर हो जाती है, परंतु वह सहज और सरल नहीं रहती। चौधरीजी लेख लिखकर कई बार उसका परिष्कार एवं मार्जन करके तब प्रकाशित करते थे। इसी प्रकार वे अपनी शैली को 'सुडौल और सुंदर' बनाया करते थे। उदाहरण के लिये निम्नलिखित अंश देखिए।

"प्रयाग की बीती युक्तप्रांतीय महाप्रदर्शिनी के सुबृहत् आयोजन और उसके समारंभोत्कर्ष के आख्यान का प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वह स्वतः विश्व-विख्यात है। उसमें सहृदय दर्शकों के मनोरंजन और कुतूहल-वर्धनार्थ जहाँ अनेक अद्भुत और अनोखी क्रीड़ा, कौतुक और विनोद की सामग्रियों के प्रस्तुत करने का प्रबंध किया गया था, स्थानिक सुप्रसिद्ध प्राचीन घटनाओं का ऐतिहासिक दृश्य दिखाना भी निश्चित हुआ और उसके प्रबंध का भार नाट्य-कला में परम प्रवीण प्रयाग युनिवर्सिटी के ला कालेज के प्रिंसिपल श्रीयुक्त मिस्टर आर० के० सोराबजी एम० ए०, बैरिस्टर-ऐट-ला को सौंपा गया, जिन्होंने अनेक सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओं को छाँट और उन्हें एक रूपक में ला सुविशाल समारोह सहित उनकी लीला (पेजेंट) दिखाने के अभिप्राय से कथा-प्रबंध-रचना में कुछ भाग तो स्वयं निर्माण करना एवं कुछ में औरों से सहायता लेनी स्थिर कर उन पर उसका भार अर्पण किया।"

अनुप्रास-प्रियता जो सैयद इंशाउल्लाखाँ से राजा शिवप्रसाद तक चली आई थी वह भी हमें इनमें मिलती है। अनुप्रास-प्रियता एवं अनूठे पदविन्यास का एक एक उदाहरण देखिए—

(१) "दोनों दलों की दलादली में दलपति का विचार भी दलदल में फँसा रहा।"

(२) "दिव्य देवी श्री महाराणी बड़हर लाख झंझट झेल और चिरकाल पर्य्यंत बड़े बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल, अचल 'कोर्ट' का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पहाड़ ढकेल, फिर गद्दी पर बैठ गई। ईश्वर का भी क्या खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुःखों की रेल-पेल और कभी उसी पर सुख की कुलेल है।"

भारतेंदुजी ने जिस शैली का आदर्श सम्मुख रखा उसके सब गुण किसी एक लेखक में नहीं मिलते हैं। परंतु उनका प्रभाव सब पर कुछ न कुछ अवश्य हुआ। किसी में एक गुण है, किसी में दो, तो किसी में नहीं भी। पंडित प्रतापनारायण मिश्र और पंडित बालकृष्ण भट्ट की शैली सरल, चलती हुई और बोलचाल की सी सजीव होती थी। उर्दू के शब्दों का प्रयोग होते हुए भी वह हिंदी ही है, राजा शिवप्रसाद सी हिंदी नहीं है। ये लोग बोलचाल के शब्दों का प्रचुर प्रयोग करते थे। इनकी शैली में सरलता, सजीवता तथा मनोरंजकता तो कूट कूटकर भरी रहती थी। इसी प्रकार लाला श्रीनिवासदास की शैली में भी हम उर्दू के शब्दों का कम प्रयोग पाते हैं और संस्कृत के शब्दों से प्रेम भी। परंतु पंडित बदरीनारायण चौधरी संस्कृत के शब्दों का प्रयोग लाला श्रीनिवासदास से भी अधिक करते थे। उनकी शैली आधुनिक प्रांजल हिंदी की शैली से अधिक मिलती है, फिर भी सजीव है। कुछ भी हो, भारतेंदुजी की शैली के निकट पहुँचने के अतिरिक्त ये सब शैलियाँ उनकी समता तो नहीं कर सकतीं। भारतेंदुजी की शैली एक विशिष्ट शैली थी। यद्यपि उसका प्रचार हुआ, उसको लोगों ने अपनाया, उसका अनुकरण भी किया, परंतु फिर भी उससे समता न हो सकी।

अब तक तो हम भारतेंदुजी की शैली से उनके कुछ समकालीन लेखकों की शैली की तुलना कर यह देखने का प्रयत्न करते रहे कि वे लोग कहाँ तक भारतेंदुजी के द्वारा निर्धारित आदर्श को अपना सके। दूसरों के लिये आदर्श बनने के लिये यह आवश्यक है कि हम अपने में भी उन गुणों का आरोप करें। कोरे उपदेशक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बनने से काम नहीं चलता। उपदेश देना और आदर्श बनना, दो भिन्न कार्य हैं। 'पर-उपदेश कुशल बहुतेरे' परंतु उस उपदेश के अनुसार जो कार्य करे, वही आदर्श बन सकता है। भारतेंदुजी ने जिस भाषा-शैली के आदर्श का अवलंबन करने का उपदेश दूसरों को दिया, उसके अनुसार वे स्वयं कहाँ तक चले, यह विचारणीय है। हम यह कह चुके हैं कि भारतेंदुजी ने दो प्रकार की शैलियाँ लिखने योग्य बतलाई थीं। एक वह जिसमें 'संस्कृत के कुछ शब्द' प्रयुक्त हों, और दूसरी वह जो उनके मत के अनुसार 'शुद्ध हिंदी' है। भारतेंदुजी को हम दोनों प्रकार की शैलियों का प्रयोग करते हुए पाते हैं। ऐतिहासिक, विवेचनात्मक आदि गंभीर विषयों के लेखों में पहले प्रकार की और नाटक, कहानी आदि सरल विषयों में शुद्ध हिंदी मिलती है। पहले प्रकार की शैली के उदाहरण के लिये नीचे दिए हुए अंश देखिए।

(१) हिंदुस्तान के बहुत से पंडितों का निश्चय है कि शिंशिपा शीशम वृक्ष को कहते हैं। किंतु हमारी बुद्धि में शिंशिपा सीताफल अर्थात् शरीफे के वृक्ष को कहते हैं। इसके दो बड़े भारी सबूत हैं। प्रथम तो यह कि यदि जानकीजी से शरीफे का कुछ संबंध नहीं तो सारा हिंदुस्तान उसको सीताफल क्यों कहता है। दूसरे यह कि महाभारत के आदिपर्व में राजा जन्मेजय के सर्प-यज्ञ की कथा में एक श्लोक है जिसका अर्थ यह है कि आस्तीक की दोहाई सुनकर जो साँप न हट जाय उसका सिर शिंश वृक्ष के फल की तरह सौ टुकड़े हो जायगा। शिंश और शिंशिपा दोनों एक ही वृक्ष के नाम हैं यह कोषों से और नामों के संबंध से स्पष्ट है। शीशम के वृक्ष में ऐसा कोई फल नहीं होता जिसमें बहुत से टुकड़े हों। और शरीफे का फल ठीक ऐसा ही होता है जैसा कि श्लोक में लिखा है।

[रामायण का समय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२) मेवाड़ की दक्षिण सीमा पर ईदर के राज्य पर उस समय भीलों का अधिकार था और उस समय के भीलों के राजा का नाम मुंडलिका था। प्रतिपालक शांतिशील ब्राह्मणों के साथ गुहा का जी नहीं मिलता था इसके समस्वभाव उग्र प्रकृति वाले भीलों से अपनी उदंड प्रचंड प्रकृति की एकता देखकर गुहा उन्हीं लोगों के साथ बन बन घूमते थे और कालक्रम से भीलों के ऐसे स्नेहपात्र हो गए कि सबन पर्वत ईदर प्रदेश भीलों ने इनको समर्पण कर दिया। एक दिन खेल में भील बालक लोग एक बालक को राजा बनाना चाहते थे और सब ने एक वाक्य से होकर गुहा ही को राजा बनाना स्वीकार किया। एक भील बालक ने चट अपनी उँगली काटके ताजे लोहू से गुहा के सिर में राजतिलक लगाया। यह खेल का व्यापार पीछे कार्यतः सत्य हो गया क्योंकि भील राजा मुंडलिक ने यह समाचार सुनकर प्रसन्न होकर ईदर का राज्य गुहा को दे दिया।"

[उदयपुरोदय

अब उनकी शुद्ध हिंदी का नमूना देखिए।

(१) "जहाँ हीरा मोती रुपया पैसा कपड़ा अन्न घी तेल अतर फुलेल पुस्तक खिलौने इत्यादि की दुकानों पर हजारों लोग काम करते हुए मोल लेते हुए बेचते दलाली करते दिखाई पड़ते हैं।"

[प्रेमयोगिनी नाटिका

(२) "कहाँ गया, कहाँ गया? बोल! उलटा रूसना, भला अपराध मैंने किया कि तुमने? अच्छा मैंने किया सही, क्षमा करो, आओ, प्रगट हो, मुँह दिखाओ। भई, बहुत भई, गुदगुदाना वहाँ तक जहाँ तक रुलाई न आवै। हा! भगवान किसी को किसी की कनौड़ी न करै, देखो मुझको इसकी कैसी बातें सहनी पड़ती हैं। आप ही नहीं भी आता उलटा आप ही रूसता है, पर अब क्या करूँ अब तो फँस गई, अच्छा यों ही सही।"

[चंद्रावली नाटिका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३) "ऐसे दरबार के। दूर ही से नमस्कार करना चाहिए, जहाँ लौंडियाँ पंडितों के मुँह आवें। यदि हमें इसी उचक्की की बातें सहनी हों तो हम वसुंधरा नाम की अपनी ब्राह्मणी ही की न चरन-सेवा करें जो अच्छा अच्छा और गरम गरम खाने के। खिलावे।"

[कपूरमंजरी

(४) "हाय रे! मेरे आँखों के उजियाले के। कौन ले गया। हाय मेरा बोलता हुआ सुग्गा कहाँ उड़ गया! बेटा! अभी तो बोल रहे थे, अभी क्या हो गया! हाय रे मेरा बसा घर आज किसने उजाड़ दिया। हाय मेरी कोख में किसने आग लगा दी। हाय मेरा कलेजा किसने निकाल लिया।"

[सत्यहरिश्चंद्र—नाटक

(५) "जंगल में राग-रागिनी का जमघट जमा देख शहर में गुनियों ने अपना भी खटराग अलग निकाला। मियाँ तानसेन का नाम ले लेकर कानों पर हाथ रख रख लगे सुलझी सुलझी तानें लेने और गवैयापन का दम भरने। गोद में ढोलक गुटकती थी बगल में बैठे सितार कुछ जुदा गुनगुना रहे थे। इधर से तानपूरे अलग कान भरते थे, मिरदंग गाना सुनके अलग ही बेताब हो रही थी, मुरचंग रीझ रीझ कर मुँह अलग चूम लेते थे, कहीं रबाब बजानेवाले उलझे पड़ते थे, कहीं मँजीरे ताल सम पर सिर हिला रहे थे, सब मिलकर एक अजब सुर बँध रहा था।"

[वसंत (लेख) चंद्रिका—१८७३-७४

(६) "तो क्या इस सीतल सरोवर में तुम न नहाओगे। अवश्य नहाना होगा, आप नहाओ और अपने जनों को कहो कि इसमें स्नान करें। प्यारे! यह अक्षय सरोवर नित्य भरा रहैगा और इसमें नित्य नए कमल फूलैंगे और कभी इसमें कोई मल न आवैगा और इस पर प्रेमियों की भीड़ नित्य लगी रहैगी और प्रेम शब्द के विषय वा पूजादिक कहनेवाले वा प्रेमाधिकारी के अतिरिक्त कोई भी इस तीर्थ पर कभी न आवैंगे। तो तुम तो स्नान करो कि मेरा परिश्रम सार्थक हो और इसका तीर्थपना पक्का हो जाय, क्योंकि तुम्हारे और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमारे वा तुम्हारे किसी सेवक के नहाने से जल मात्र गंगा हो जाते हैं तो आओ, इधर आओ; इस उत्तम तीर्थ का मार्ग दिखानेवाला तुम्हारे आगे चलता है।"

[प्रेमसरोवर की भूमिका

इन उल्लिखित अंशों को देखकर पाठकों को यह निश्चय हो गया होगा कि भारतेंदुजी ने अपने आदर्श को पूर्णतया निभाया। परंतु उनके लिखे हुए कुछ लेख ऐसे भी हैं जिनमें संस्कृत के शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। नियामक पहले कुछ नियम गढ़ लेता है, परंतु बाद में भिन्न परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर वह उन नियमों का पालन स्वयं ही नहीं कर पाता। वह उनका संशोधन या उल्लंघन करता है। प्रतिभाशाली तथा विचक्षण कवि या लेखक कभी कभी स्वतंत्र रीति से वाणी के विलास में प्रवृत्त होते हैं। अधिकतर यही देखा जाता है कि जो कवि जितना अधिक स्वतंत्र तथा मौलिक विचारवाला होता है, वह लकीर का फकीर बनना उतना ही अधिक अस्वीकृत करता है। भारतेंदुजी ने भी यही किया। जिस समय उन्होंने दो प्रकार की शैलियाँ लिखने योग्य बताई, वह समय इसके अनुकूल था। परिस्थिति ऐसी थी कि इसके बिना हिंदी हिंदी न रहती। वह या तो राजा शिवप्रसाद की कृपा से उर्दू हो जाती या राजा लक्ष्मणसिंह की कृपा से संस्कृत। भारतेंदुजी को यह वांछनीय न था। अतः उस समय की परिस्थितियों के अनुकूल यह आवश्यक था कि भाषा-प्रयोग के लिये कुछ नियम एवं आदर्श निर्धारित कर दिए जाँय। परंतु बाद में परिस्थिति ऐसी न रही। अनेक लेखक उत्पन्न हुए और अनेक प्रकार की शैलियाँ भी दृष्टिगोचर होने लगीं। धीरे धीरे भाषा में शक्ति आने लगी और शैली में प्रौढ़ता का आभास होने लगा। गंभीर विषयों पर लेख लिखे जाने लगे। भारतेंदुजी भी समय के प्रभाव से न बच सके। प्रतिभाशाली लेखक नियम के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बंधन में नहीं रहते। भारतेंदुजी प्रतिभा-संपन्न लेखक थे। उन्होंने शैली का निर्धारण किया, लकीर के फकीर नहीं बने। शैली में समयानुकूल परिवर्तन कर समाज के साथ लगे रहे। भारतेंदुजी के 'नाटक' नामक लेख में इसी पद्धति का अनुसरण मिलता है। 'नाट्य-रचना' एक तत्त्व-संबंधी विवेचनात्मक निबंध है। अब तक नाट्य-रचना पर हिंदी में कोई ग्रंथ नहीं लिखा गया था। संस्कृत के ग्रंथों से सहायता लेना आवश्यक था और संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी अनिवार्य था। उदाहरण के लिये देखिए—

"किसी चित्रपट द्वारा नदी, पर्वत, वन वा उपवन आदि की प्रतिच्छाया दिखलाने को प्रतिकृति कहते हैं। इसी का नामांतर अंतःपटी वा चित्रपट वा दृश्य वा स्थान है। यद्यपि महामुनि भरत-प्रणीत नाट्य-शास्त्र में चित्रपट द्वारा प्रासाद, वन, उपवन किंवा शैल प्रभृति की प्रतिच्छाया दिखाने का कोई नियम स्पष्ट नहीं लिखा, किंतु अनुधावन करने से बोध होता है कि तत्काल में भी अंतःपटी परिवर्तन द्वारा वन उपवन पर्वतादि की प्रतिच्छाया अवश्य दिखलाई जाती थीं। ऐसा न होता तो पौर-जानपद वर्ग के अपवाद-भय से श्री रामकृत सीता-परिहार के समय उसी रंगस्थल में एक ही बार अयोध्या का राजप्रासाद और फिर उसी समय वाल्मीकि का तपोवन कैसे दिखलाई पड़ता। इससे यह निश्चय होता है कि प्रतिकृति के परिवर्तन द्वारा पूर्वकाल में यह सब अवश्य दिखलाया जाता था।" [नाट्य-रचना लेख

भारतेंदुजी का कार्य हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में किसी राजनीतिक नेता से कम न था। भारतेंदुजी को एक नई तरह की भाषा-शैली का प्रचार करना था। उसका देश, काल और पात्र के अनुकूल होना आवश्यक था। उसका ऐसा होना अनिवार्य था जिसका प्रचार एवं आदर सब प्रांतों में हो। भारतेंदुजी अपनी प्रतिभा से इस कार्य में सफल हुए। उनकी अनुमोदित शैली का प्रचार सब प्रांतों में हुआ। अनेक लेखक उत्पन्न हुए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और अपने अग्रगामी आदर्श नेता के दिखाए हुए पथ का अनुसरण करने लगे। अनुकरण कभी सर्वांग संपूर्ण नहीं होता। नाट्य-कला अनुकरण का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है, परंतु इसमें भी कुछ न कुछ न्यूनता रहती ही है। भाषा तथा शैली के अनुकरण की तो बात ही दूसरी है। इसमें जितनी न्यूनता रहे, उतनी ही थोड़ी है। भारतेंदुजी का अनुकरण करनेवाले समकालीन लेखक उनकी शैली का पूर्णतया अनुकरण न कर सके। परंतु कुछ अंशों में उन्होंने आशातीत सफलता प्राप्त की। किसी लेखक ने भारतेंदुजी की शैली का एक ही गुण अपनाया, किसी ने कई, तो किसी ने नहीं भी। यदि हम प्रत्येक लेखक का विचार करके देखें तो यही बात प्रत्यक्ष होगी। पंडित प्रतापनारायण मिश्र तथा पंडित बालकृष्ण भट्ट कई बातों में समता रखते हैं। भारतेंदुजी की शैली के गुणों को अपनाने में ये लोग अधिक सफल रहे। उर्दू और संस्कृत के शब्दों का कम प्रयोग, बोलचाल के शब्दों का अधिक प्रयोग, सरल एवं चलती भाषा में सजीव और सरस शैली का होना इन लोगों के विशेष गुण हैं। भारतेंदुजी की शैली के गुणों की प्रतिच्छाया इन लोगों में अधिक मिलती है। इसी प्रकार पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'जी ने सजीवता और चलतेपन के अतिरिक्त भारतेंदुजी की संस्कृत के अधिक शब्दोंवाली शैली अपनाई। लाला श्रीनिवासदास ने, संस्कृत के शब्दोंवाली और शुद्ध हिंदीवाली, दोनों ही शैलियाँ अपनाईं। इनकी शैली में भी सरसता, सरलता एवं सजीवता का विशेष अभाव नहीं मिलता। कहने का तात्पर्य यही है कि भारतेंदुजी के समकालीन लेखकों में से अधिकांश ने अपने नेता के गुणों को अपनाया।

भारतेंदुजी एक सफल नेता थे। उन्होंने जिस कार्य के लिये लोगों को उपदेश दिया, उसका स्वयं भी पालन किया। जनता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को जिस रीति का पालन करने का उपदेश दिया, उसका पालन स्वयं भी किया। इस पक्ष में वे गाँधीजी के समान जान पड़ते हैं। गाँधीजी ने राजनीतिक क्षेत्र में सैनिकों को एक विशेष प्रकार की लड़ने की शैली—अहिंसा—का उपदेश दिया। गाँधीजी ने स्वयं भी उसका पालन किया और यह सिद्ध कर दिखाया कि इसका पालन करना कठिन नहीं है। उसी प्रकार भारतेंदुजी ने भी एक विशिष्ट शैली एवं भाषा को अपनाने का उपदेश दिया। उन्होंने स्वयं उस शैली तथा भाषा का प्रयोग करके दिखा दिया था कि इसका प्रयोग करना कठिन नहीं है। गाँधीजी के नेतृत्व में सैनिक उत्पन्न हुए और भारतेंदुजी के नेतृत्व में लेखक। गाँधीजी के समान भारतेंदुजी अपने क्षेत्र और समुदाय के नेता थे। भाव-द्योतन के लिये भाषा की परम आवश्यकता होती है। इसके बिना सैनिक भी कार्य नहीं कर सकता। सैनिकों की शिक्षा और उनमें उत्साह भरने के लिये भाषा की परम आवश्यकता पड़ती है। भाषा की शक्ति पशु-बल से अधिक उपयोगी है। इस दृष्टि से विचार करने से भारतेंदुजी का कार्य और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। भारतेंदुजी ने हमारी भाषा को वह शक्ति दी जिसके कारण वह आज राष्ट्र-भाषा हो गई है। भारतेंदुजी का कार्य बहुत महत्त्व-पूर्ण था। उन्होंने अपना यह महत्त्वपूर्ण कार्य किस पद्धति से संपादित किया और कितनी तरह की भावानुरूप शैलियों से उसका प्रदर्शन किया, यह आगे दिखलाया जायगा।

(३)

भारतेंदुजी की शैली

काव्य के दो पक्ष होते हैं—एक भावपक्ष तथा दूसरा कला-पक्ष। कलापक्ष के अंतर्गत अलंकार, छंदोरचना आदि के अति-रिक्त शैली भी है। पाश्चात्य विद्वानों ने शैली को कई तरह से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समझाने की चेष्टा की है। कोई उसको रूप-सौंदर्य कहता है, कोई रचना-चमत्कार। परंतु वास्तव में वह इन सबसे भिन्न अर्थ रखती है। किसी लेखक या कवि का अपने भावों, विचारों, अनुभवों, आदि को भाषा द्वारा प्रकट करने का विशेष और निजी ढंग ही शैली है। प्रत्येक लेखक अथवा कवि अपनी बात अपने ढंग से कहता है। यह अपने ढंग से कहना ही उस लेखक की शैली कहलाती है। इसी आधार पर पाश्चात्य विद्वानों ने शैली को लेखक की वैयक्तिकता (Style is the man himself) माना है। जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का चेहरा, उसके शरीर की गठन आदि एक दूसरे से भिन्न होती है उसी प्रकार प्रत्येक लेखक की शैली भी भिन्न होती है। रूप-रचना (Painting) करके एक मनुष्य चाहे तो दूसरे के अनुरूप हो जाय, परंतु अपने में वह दूसरे मनुष्य का व्यक्तित्व न ला सकेगा। नाटक में पुरुष स्त्री का वेष धारण करते हैं, व्यवहार में भी बहुत कुछ अनुकरण द्वारा कृत्रिमता ले आते हैं, परंतु फिर भी अपनी पुरुषता—अपने व्यक्तित्व—का पूर्ण परिहार नहीं कर पाते हैं। उनके कथन का, उठने-बैठने का, चलने-फिरने का ढंग उनके व्यक्तित्व को प्रकट कर ही देता है। इसी प्रकार यदि किसी लेखक की शैली का कोई अनुकरण करे तो संभव है कि वह उसमें बहुत कुछ सफलता प्राप्त कर ले, परंतु वह न तो उसके व्यक्तित्व को ही अपनी कृत्रिम शैली द्वारा प्रकट कर सकेगा और न स्वयं अपने व्यक्तित्व को ही छिपा सकेगा। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का चेहरा और चाल-ढाल देखकर हम यह कह देते हैं कि यह अमुक व्यक्ति है, उसी प्रकार किसी लेखक की रचना देखकर हम यह कह उठते हैं कि यह अमुक व्यक्ति की रचना है। बिहारी, पद्माकर आदि की कविता देखकर प्रत्येक सहृदय पाठक कह देता है कि यह रचना बिहारी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

या पद्माकर के अतिरिक्त और किसी की नहीं है। जब हम ऐसा कहते हैं, तब हमारा ध्यान उस कवि या लेखक के भावों या विचारों पर नहीं जाता, परंतु हम उन भावों या विचारों को प्रकट करने का ढंग देखकर ही ऐसा कहते हैं। हम अपने किसी मित्र या संबंधी की वाणी सुनते ही उसे पहचान लेते हैं। परिचितों की आवाज में एक विशेषता होती है जिससे हम पूर्णतया अभिज्ञ होते हैं। चाहे हम उस विशेषता का विश्लेषण करने में समर्थ न हों, पर उसे हम पहचान अवश्य लेते हैं और अपने मन में दूसरों की आवाज से उसकी विभिन्नता स्थिर कर लेते हैं। इसी प्रकार किसी कवि या लेखक के कथन का ढंग हमें बता देता है कि वह कौन है। प्रत्येक कवि अथवा लेखक की रचनाएँ उसके मस्तिष्क और हृदय से ही उत्पन्न होती हैं। उनका रचयिता उनके प्रत्येक वाक्य, पद तथा पृष्ठ में अदृश्य रूप से व्याप्त रहता है। उसका प्राण, उसका जीवन, उसका सर्वस्व जिसके कारण उसकी महत्ता है, उनमें सर्वत्र पाया जाता है। उसकी रचना एक प्रकार से उसकी प्रतिकृति होती है। उसमें कवि या लेखक का व्यक्तित्व निहित रहता है। उसी को देखकर हम कह बैठते हैं कि यह पद या वाक्य अमुक लेखक के अतिरिक्त दूसरे का हो ही नहीं सकता है। इसी का नाम लेखन-शैली है।

प्रत्येक मनुष्य स्वभाव से ही यह चाहता है कि वह अपने भावों तथा विचारों को दूसरे पर प्रकट करे। वह अपने अंतःकरण में उन्हें छिपा रखने में सर्वदा समर्थ नहीं होता। बिना उन्हें दूसरों पर प्रकट किये उसे चैन नहीं पड़ता। वह अपने भावों को भाषा द्वारा दूसरों पर प्रकट करता है। भाषा का प्रयोग तो सभी लोग करते हैं, परंतु लेखक या कवि की भाषा कुछ निराले ढंग की होती है। वह अपने भावों को अपने इच्छानुसार—अपनी विशेषता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के अनुरूप—एक विशेष प्रकार की भाषा के साँचे में ढालकर प्रकट करता है। वह अपनी भाषा को ऐसा रूप प्रदान करता है जो मनमोहक और सुंदर होता है।

शैली भावों या विचारों के प्रकाशन का बाहरी रूप है। भावों का प्रकाशन भाषा द्वारा ही होता है। अतः भाषा में भावों को प्रकट करना ही शैली है। भाषा का प्रयोग सभी लोग करते हैं और सबकी शैली अपने ढंग की हो सकती है। पर लेखक या कवि की शैली कुछ निराले ढंग की होती है। प्रतिभावान् लेखक की भाषा उसके भावों की क्रीत दासी सी होती है। वह अपने विचारों को प्रकट करने के लिये अपने इच्छानुसार तथा अपनी प्रतिभा के अनुरूप उसे एक विशेष प्रकार के साँचे में ढाल लेता है। वह उसकी आज्ञा की वशवर्तिनी रहने में ही अपना सौभाग्य समझती है। अतः भाषा को ही शैली कहना ठीक नहीं है। हाँ, भाषा द्वारा शैली प्रकट हो सकती है।

कुछ विद्वानों के मत से शैली विचारों का परिधान है। पर यह ठीक नहीं है; क्योंकि परिधान का शरीर से अलग और निज का अस्तित्व होता है। उसकी व्यक्ति से भिन्न स्थिति होती है। जैसे मनुष्य के विचार उससे अलग नहीं हो सकते, वैसे ही उन विचारों को व्यंजित करने का ढंग भी उनसे अलग नहीं हो सकता। अतएव शैली को विचारों का परिधान न कहकर उनका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना अथवा उसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहना ही ठीक है।

पाश्चात्य विद्वानों ने शैली के गुणों को दो भागों में विभक्त किया है—एक प्रज्ञात्मक (Intellectual) और दूसरा रागात्मक (Emotional)। यह विभाग बुद्धि और हृदय की क्रियाओं के आधार पर किया गया है। शैली का प्रज्ञात्मक गुण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बुद्धि से संबंध रखता है। बुद्धि की सहायता से हम किसी वस्तु का वर्णन, कथन या प्रतिपादन करते हैं। अर्थात् बुद्धि के द्वारा हम किसी वस्तु को समझते या समझाते हैं। इसके लिये शैली में वे गुण अपेक्षित होते हैं जिनके द्वारा हम मनोनीत कार्य संपादित कर सकें। वे गुण सरलता, स्पष्टता, प्रभावशालिता आदि हैं। किसी वस्तु का सरल और स्पष्ट वर्णन करते हुए उसे प्रभावशाली बनाने में बुद्धि का बड़ा भारी हाथ रहता है। दुरूह और अस्पष्ट वर्णन तब तक प्रभावोत्पादक नहीं हो सकता जब तक वह सरल और स्पष्ट न हो। प्रत्येक लेखक की यह आकांक्षा रहती है कि उसका कथन प्रभावोत्पादक हो। अतः किसी कथन को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये यह आवश्यक है कि वह सरल एवं स्पष्ट हो। प्रसंगगर्भत्व का प्रयोग शैली को चमत्कृत कर देता है। यदि वह प्रसंग, जिसका प्रयोग कवि ने किया है, जन-साधारण की समझ एवं व्यवहार के बाहर है तो उसका आनंद साधारण पाठक न उठा सकेगा। अतएव प्रसिद्ध प्रसंगों का प्रयोग ही कवि-परिश्रम को सार्थक बनाता है। भारतेंदुजी सर्वदा इसका ध्यान रखते थे कि हमारी शैली क्लिष्ट न हो जाय। वे उन प्रसंगों का ही प्रयोग करते थे जो प्रसिद्ध थे, जैसे रामायण या महाभारत के। वेद या पुराणादि के भी उन्हीं प्रसंगों का उल्लेख करते थे जिनकी प्रसिद्धि संभव जान पड़ती थी। उदाहरण के लिये देखिए—

(१) श्री रघुनाथ की प्राण-प्रिया मिथिलेश-लली दससीस चही है।

(२) वेद चुराय कै दानव के गन भागे पताल न जाय कही है।

चित्रांकन (Picturesqueness) भी प्रज्ञात्मक शैली के अंतर्गत आ जाता है। सरल शब्दों में स्पष्टता के साथ सुंदर चित्र खींचना भी कवि-प्रतिभा का द्योतक है। देखिए, भारतेंदुजी जिस भाव का वर्णन करते हैं उसका चित्र सा सामने खड़ा हो जाता है—

२७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१) सिसुताई अजौं न गई तन ते तउ जोवन जोति बटोरै लगी।
सुनि कै चरचा 'हरिचंद' की कान कछूक दै भौंह मरोरै लगी॥
बचि सासु जेठानिन सों पिय तें दुरि घूँघट में दृग जोरै लगी।
दुलही उलही सब अँगन तें दिन द्वै तें पियूख निचोरै लगी॥

(२) हूलति हिये में प्रानप्यारे के विरह-सूल,
फूलति उमंग भरी झूलति हिंडोरे पै।
गावति रिझावति हँसावति सबन हरिचंद,
चाव चौगुनो बढ़ाई घन घोरे पै॥
वारि वारि डारौं प्रान हँसनि मुरनि बतरान,
मुँह पान कजरारे दृग डोरे पै।
ऊनरी घटा मैं देखि दूनरी लगी है अहा,
कैसी आजु चूनरी फबी है मुख गोरे पै॥

शैली का दूसरा गुण रागात्मक है। यह वह गुण है जो हृदय से संबंध रखता है। राग अर्थात् भाव हृदय में ही उत्पन्न होते हैं। लेखक अपने हृद्गत भावों को इसलिये प्रकट करता है कि पाठक उसे समझकर वैसे ही भावों को अपने हृदय में उत्पन्न करे और उसका आनंद उठावे। इस कार्य के लिये लेखक अथवा कवि को ऐसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जो शक्ति-संपन्न हों, अर्थात् जैसा भाव लेखक या कवि प्रकट करना चाहता है, उनको प्रकट करने में उसके शब्द समर्थ हों। मनुष्य के हृदय में जैसे भाव होते हैं, उन्हीं के अनुसार उसके मुख की आकृति भी बदल जाती है। उसके मुख ही को देखकर लोग उसके हृद्गत भाव समझ लेते हैं। यदि उसके हृदय में क्रोध का भाव होगा तो उसके मुख की आकृति बिगड़ी हुई, भौंहें चढ़ी हुई, नथुने फूले हुए, आँखें लाल लाल, ओंठ फड़कते हुए और चेहरा तमतमाया हुआ होगा। यदि उसके हृदय में प्रसन्नता का भाव होगा तो आँखें संकुचित, ओंठ खुले हुए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और दाँत निकले हुए दिखाई पड़ेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार के भाव होंगे, उनके व्यक्त करने का ढंग भी उसी के अनुकूल होगा। शैली का भावानुकूल होना परम आवश्यक है। जैसा भाव प्रकट करना हो, उसी के अनुकूल शब्दों का चुनाव तथा उनका वाक्य में प्रयोग होना चाहिए। कठोर भावों को बड़े बड़े वाक्यों तथा कोमल शब्दों द्वारा व्यक्त करने से उनका ठीक ठीक वर्णन न हो सकेगा। क्रोध में वाक्य छोटे छोटे होते हैं, शब्द श्रवण-कटु होते हैं तथा रुक रुककर मुखरित होते हैं। जिस प्रकार मुख में हृदय का प्रतिबिंब लक्षित होता है, उसी प्रकार शैली में भी। उसको सुनकर ही श्रोता कह देता है कि वह क्रुद्ध है। इसी प्रकार यदि कोई शोक या दुःख के कारण विलाप कर रहा हो तो उसके वाक्य छोटे छोटे होंगे, शब्दों से दुःख की व्यंजना होगी, उसकी प्रत्येक क्रिया का दिग्दर्शन उसके कथन से हो जायगा। भारतेंदुजी की शैली का सबसे बड़ा गुण यही है कि वे उसको भावानुकूल अथवा विषयानुरूप परिवर्तित कर सकते थे और ऐसा करने की उनमें पूरी पूरी क्षमता थी। प्रमाण-स्वरूप तथ्य-निरूपण या वस्तु-वर्णन के समय भाषा में कुछ संस्कृत पदावली का समावेश हो जाता है, परंतु दुर्बोधता नहीं आती। वाक्य लंबे होते हुए भी सरल ही रहते हैं।

(१) "वह निस्संदेह बहुत बड़ा मनुष्य है। दूसरों के लिये उदाहरण बनने योग्य है। भला पहले जिसने अपने निज के और अपने घर के चरित्र ही नहीं शुद्ध किए हैं उसकी और बातों पर क्यों विश्वास हो सकता है। शरीर में चरित्र ही मुख्य वस्तु है। वचन से उपदेशक और क्रियादिक से कैसा भी धर्मनिष्ठ क्यों न हो, पर यदि चरित्र शुद्ध नहीं है तो लोगों में वह टकसाल न समझा जायगा और उसकी बातें प्रमाण न होंगी।"

[सत्यहरिश्चंद्र नाटक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२) "सुनिए, काशी का नामांतर वाराणसी है। जहाँ भगवती जह्नुनंदिनी उत्तरवाहिनी होकर धनुषाकार तीन ओर से ऐसी लिपटी है, मानो इसको शिव की प्यारी जानकर गोद में लेकर आलिंगन कर रही है, और अपने पवित्र जलकण के स्पर्श से तापत्रय दूर करती हुई मनुष्य मात्र को पवित्र करती है। उसी गंगा के तट पर पुण्यात्माओं के बनाए बड़े बड़े घाटों के ऊपर दोमंजिले, चौमंजिले, पँचमंजिले और सतमंजिले ऊँचे ऊँचे घर आकाश से बातें कर रहे हैं, मानो हिमालय के श्वेत शृंग सब गंगा-सेवन को एकत्र हुए हैं। उसमें भी माधोराय के दोनों धरहरे तो ऐसे दूर से दिखाई देते हैं मानों बाहर के पथिकों को काशी अपने दोनों हाथ ऊँचे करके बुलाती है।"

[प्रेमयोगिनी

भावावेश में प्रायः वाक्य बहुत छोटे होते हैं। पदावली सरल एवं बोलचाल की होती है। इससे बोलचाल में प्रचलित उर्दू के साधारण शब्द भी आ जाते हैं, परंतु बहुत ही कम। चंद्रावली नाटिका से उद्धृत यह उपालंभ का नमूना बहुत ही सुंदर है।

"झूठे ! झूठे !! झूठे !!! झूठे ही नहीं वरंच विश्वासघातक ! क्यों इतनी छाती ठोंक और हाथ उठा उठाकर लोगों को विश्वास दिया ? आप ही सब मरते चाहे जहन्नुम में पड़ते ! भला क्या काम था जो इतना पचड़ा किया ? किसने यह उपद्रव और जाल करने को कहा था ? कुछ न होता, तुम्हीं तुम रहते बस चैन था, केवल आनंद था, फिर क्यों यह विषमय संसार किया। बखेड़िए ! और इतने बड़े कारखाने पर बेहयाई परले सिरे की। नाम बिके, लोग झूठा कहें, अपने मारे फिरें, आप ही अपने मुँह से झूठे बने, पर वाह रे शुद्ध बेहयाई और पूरी निर्लज्जता ! बेशरमी हो तो इतनी तो हो ! क्या कहना ! लाज को जूतों मार कर पीट पीट के निकाल दिया है। जिस मुहल्ले में आप रहते हैं उस मुहल्ले में लाज की हवा भी नहीं जाती। जब ऐसे हो तब ऐसे हो ! हाय ! एक बार भी मुँह दिखा दिया होता तो मतवाले मतवाले बने क्यों लड़ लड़कर सिर फोड़ते। अच्छे खासे अनूठे निर्लज्ज हो, काहे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को ऐसे बेशरम मिलेंगे, हुकमी बेहया हो, शरमाओगे थोड़े ही कि माथा खाली करना सुफल हो।"

जहाँ चित्त में क्षोभ का व्यंजन होता है और चिंतन के लिये अवकाश रहता है वहाँ की भाषा कुछ अधिक साधु और गंभीर तथा वाक्य कुछ बड़े होते हैं। प्रेमयोगिनी में सूत्रधार कहता है—

"क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परम बंधु, पिता, मित्र, पुत्र, सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एकमात्र मूर्ति, सत्य का एकमात्र आश्रय, सौजन्य का एकमात्र पात्र, भारत का एकमात्र हित, हिंदी का एकमात्र जनक, भाषा-नाटकों का एकमात्र जीवनदाता, हरिश्चंद्र दुःखी हो! (नेत्रों में जल भरकर)—हा सज्जनसिरोमणि! कुछ चिंता नहीं, तेरा तो बाना है कि 'कितना भी दुःख हो उसे सुख मानना' लोभ के परित्याग के समय नाम और कीर्ति तक का परित्याग कर दिया है और जगत् से विपरीत गति चल के तूने प्रेम की टकसाल खड़ी की है। × × × × × मित्र, तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनों भूल जाते हो, तुम्हें इनकी निंदा से क्या? इतना चित्त क्यों क्षुब्ध करते हो? स्मरण रक्खो ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोक-बहिष्कृत होकर भी इनके सिर पर पैर रख के विहार करोगे, क्या तुम अपना कवित्त भूल गए—'कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि भरि कै, पाछे प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी'। मित्र मैं जानता हूँ कि तुम पर सब आरोप व्यर्थ है; हा! बड़ा विपरीत समय है।"

पुत्र-मरण हृदय-विदारक कष्ट है। उस समय के प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य से शोक की व्यंजना होती है। गला रुँध जाता है जिससे वाक्य छोटे छोटे होते हैं। एक ही भाव पर कई वाक्य कहे जाते हैं। भाषा अत्यंत सरल और बोलचाल की होती है। उसमें तोड़-मरोड़ नहीं होती। कृत्रिमता लेशमात्र को नहीं होती। भारतेंदुजी ने, पुत्र रोहिताश्व की मृत्यु पर महारानी शैव्या के विलाप के समय ऐसी ही भाषा एवं शैली का प्रयोग किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"हाय-हाय रे ! अरे मेरे लाल को साँप ने सचमुच डस लिया है ! हाय लाल ! हाय रे ! मेरे आँखों के उजियाले को कौन ले गया ! हाय मेरा बोलता सुग्गा कहाँ उड़ गया ! बेटा ! अभी तो बोल रहे थे, अभी क्या हो गया ! हाय मेरा बसा घर किसने उजाड़ दिया। हाय मेरी कोख में किसने आग लगा दी ! हाय ! मेरा कलेजा किसने निकाल लिया। (चिल्ला चिल्लाकर रोती है) हाय, लाल कहाँ गये ? अरे अब मैं किसका मुँह देख के जीऊँगी रे ? हाय अब मा कहके मुझको कौन पुकारेगा ? अरे आज किस बैरी की छाती ठंढी भई रे ! अरे तेरे सुकुँआर अंगों पर भी काल को तनिक भी दया न आई ! अरे बेटा ! आँख खोलो। हाय ! मैं सब विपत तुम्हारा ही मुँह देखकर सहती थी, सो अब मैं कैसे जीती रहूँगी ! अरे लाल ! एक बेर तो बोलो !"

रतिभाव का ही दूसरा नाम प्रेम है। यह प्रेम बड़ा व्यापक भाव है। भगवद्भक्ति में ईश्वर के प्रति और देशभक्ति में देश के प्रति प्रेम ही है। स्त्री-पुरुष का प्रेम भी प्रेम ही है और माता-पिता का पुत्र के प्रति प्रेम ही वात्सल्य प्रेम है। यह सब प्रकार का प्रेम शृंगार रस के अंतर्गत तो आ जाता है, परंतु सब की सत्ता भिन्न भिन्न है। प्रत्येक प्रेम में एक विशेष प्रकार का भाव निहित रहता है। दांपत्य प्रेम वात्सल्य प्रेम से भिन्न है, भगवत्प्रेम देश-प्रेम से अथवा राज-प्रेम से भिन्न है। यही भिन्नता उसके वर्णन-शैली में भी भेद उत्पन्न कर देती है और भारतेंदुजी ने उसी के अनुकूल अपनी शैली में परिवर्तन उपस्थित कर उसका वर्णन किया है। भगवत्प्रेम में भावों का उद्गार संकुचित करके थोड़े शब्दों में भरना पड़ता है, अतएव संस्कृत समास-पदावली का समावेश हो जाता है। कुछ ऐसे शब्द रखने पड़ते हैं जिनसे पाठक एवं श्रोता के हृदय में आदर-भाव भी उत्पन्न हो। देखिए भारतेंदुजी कृष्ण से प्रार्थना करते हुए समास-पदावली का प्रयोग करते हैं—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"जयति राधिकानाथ चंद्रावली प्रानपति घोष-कुल-सकल-संताप हारी।
गोपिका-कुमुद-बन-चंद्र साँवर बरन हरन बहु विरह आनंदकारी।
त्रिखित लोचन युगल पान हित अमृत वपु विमल-वृंदा-विपिन भूमिचारी।
गाय गिरिराज के हृदय आनंद करन, नित्य विहवल-करन जमुन-बारी।
नंद के हृदय आनंद वर्धित-करन, भरनि जसुदा-मनसि मोद भारी।
बाल क्रीड़ा-करन नंद-मंदिर सदा कुंज तै प्रौढ़ लीला विहारी।
गोप-सागर-रतन सकल गुन-गन भरे क्वनित स्वर सप्त मुख मुरलिधारी।
मंजु मंजीर पद कलित कटि-किंकिनी उरसि बनमाल सुंदर सँवारी।
सदा निज भक्त संताप आरति-हरन करन रस-दान अपनो विचारी।
दास 'हरिचंद' कलि वल्लभाधीश ह्वै प्रगट अज्ञात लीला बिहारी।"

भारतेंदुजी ने स्वदेश के लिये तन, मन, धन, सब कुछ अर्पित कर दिया था और वे सदा देशोन्नति की ही चिंता में रहा करते थे। भारत की करुण दशा का वर्णन करते समय उन्होंने उसके प्राचीन गौरव और आधुनिक दुर्दशा की बड़ी मार्मिक व्यंजना की है। उनका यह अनोखा गुण है कि वे विषय एवं भाव के अनुरूप ही अपनी शैली में परिवर्तन भी कर दिया करते थे। इन्होंने वीर भाव का प्रदर्शन इस पद में किया है; साथ ही साथ प्राचीन समय के आदर, विद्या और बल को भी नहीं भूले हैं और न इस समय की अवनति को।

ये कृष्ण बरन जब मधुर तान। करते अमृतोपम वेद गान।
तब मोहत सब नर-नारि-वृंद। सुनि मधुर बरन सज्जित सुछंद।
जग के सब ही जन धारि स्वाद। सुनते इनहीं को बीन-नाद।
इनके गुन हो तो सबहि चैन। इनहीं कुछ नारद तानसैन।
इनहीं के क्रोध किए प्रकास। सब काँपत भूमंडल अकास।
इनहीं के हुंकृति शब्द घोर। गिरि काँपत हे सुनि चार ओर।
जब लेत रहे कर में कृपान। इनहीं कहँ हो जग तृन समान।
सुनि कै रनबाजन खेत माहिं। इनहीं कह ही जिय संक नाहिं!

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सोई भारत भूमि भई सब भाँति दुखारी।
रह्यौ न एकहु बीर सहस्रन कोस मँझारी॥
होत सिंह को नाद जौन भारत बन माँहीं।
तहँ अब ससक सियार स्वान खर आदि लखाहीं॥

दांपत्य-प्रेम को ही शृंगार रस का मुख्य अंग माना जाता है। वास्तव में यही प्रेम-सृष्टि का मूल है। इसके दो भेद होते हैं—वियोग और संयोग। वियोग में प्रिय के बिछोह का दुःख रहता है और संयोग में उसके नैकट्य का सुख। अतएव वियोग में दुःख का वर्णन होता है और संयोग में सुख का। दुःख या सुख के वर्णन में उसके उपयुक्त ही वर्णन-शैली भी चाहिए। वियोग वर्णन के उपयुक्त कैसी शैली का प्रयोग किया है, देखिए—

(१) देखि घनस्याम घनस्याम की सुरति करि,
जिय मैं बिरह घटा घहरि घहरि उठै।
त्यौं ही इंद्रधनु बगमाल देखि बनमाल,
मोतीलर पिय की जिय लहरि लहरि उठै॥
हरीचंद मोर पिक धुनि सुनि बंसी नाद,
बाँकी छबि बार बार छहरि छहरि उठै।
देखि देखि दामिनि की दुगुन दमक पीत,
पट छोरे मेरे हिय फहरि फहरि उठै।

(२) मन मोहन ते बिछुरी जब सों, तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
'हरिचंदजू' प्रेम के फंद परीं, कुल की कुललाजहि खोवती हैं॥
दुःख के दिन कोऊ भाँति बितै, बिरहागम रैन सँजोवती हैं।
हमही अपुनी दशा जानैं सखी, निसि सोवती हैं किधौं रोवती हैं॥

अब देखिए संयोग-दशा के वर्णन की शैली—

आज धन भाग हमारे यह घरी धन
मेरे घर आए गिरिराज-धरन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाचैं गाओंगी करैंगी बधाई नारि,
डारैंगी तन-मन-धन-प्रान-अभरन ॥
राखैंगी कंठ लाई जान न देहैं फेर,
करि बिनती बहु गहि कै चरन ।
'हरीचंद' वल्लभ-बल पीओंगी,
अधररस, छाँड़ौगी अब न सरन ।

प्रेम बड़ा कोमल भाव है। अतः इसके वर्णन की शैली भी कोमल ही होती है। क्रोध बड़ा ही कठोर भाव है। इस भाव के अनुकूल कठोर शब्दों के प्रयोग के बिना कवि क्रोध को पूर्णतया व्यंजित न कर सकेगा। देखिए भारतेंदुजी ने क्रोध की कैसी व्यंजना की है—

तोरि गदा सों हृदय दुष्ट दुस्सासन केरो ।
तासों ताजो सद्य रुधिर करि पान घनेरो ॥

उत्साह के लिये ऐसे शब्दों का ही प्रयोग होना चाहिए जो पाठकों अथवा श्रोताओं को उत्साहित कर दें। इस विषय में भारतेंदुजी की कुशलता का परिचय निम्नलिखित अंश से प्राप्त कीजिए—

तोड़ा सुलगत चढ़े रहैं घोड़ा वंदूकन ।
रहै खुली ही म्यान प्रतंचै नहिं उतरे छन ॥
देखि लेहिंगे कैसे पामर यवन बहादुर ।
आवहिं तो चढ़ि सनमुख कायर कूर सबै जुर ॥
दैहैं रन को स्वाद तुरंतहि तिनहिं चखाई ।
जो पै इक छनहू सनमुख ह्वै करहिं लराई ॥

इसी प्रकार घृणोत्पादक विषय का वर्णन भी ऐसा किया है कि पाठक पढ़ते पढ़ते नाक-भौं सिकोड़ने लगेंगे। यह उनकी वर्णन-शैली का गुण है। देखिए—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गिद्ध जाँघ कहँ खोदि खोदि कै मांस उचारत।
स्वान आँगुरिन काटि काटि के खान विचारत।
कहुँ चील नोचि लै जात तुच मोह बढ़्यो सबको हियो।

भारतेंदुजी ने हास्य-प्रधान वस्तु-वर्णन भी किया है। परंतु आजकल सा हास्य, जैसा हमें आधुनिक लेखकों की रचनाओं में मिलता है वैसा नहीं, अपितु बड़ा ही शिष्ट और उच्च श्रेणी का। स्वप्न में स्थापित एक ''गगनगत अविद्या-वरुणालय' की नियमावली सुनाते सुनाते आप कहते हैं—

"अब आप सज्जनों से यही प्रार्थना है कि आप अपने अपने लड़कों को भेजें और व्यय आदि की कुछ भी चिंता न करें, क्योंकि प्रथम तो हम किसी अध्यापक को मासिक देंगे नहीं और दिया भी तो अभी दस-पाँच वर्ष पीछे देखा जायगा। यदि हमको भोजन की श्रद्धा हुई तो भोजन का बंधान बाँध देंगे, नहीं, यह नियत कर देंगे कि जो पाठशाला-संबंधी द्रव्य हो उसका वे सब मिलकर 'नास' लिया करें। अब रहे केवल पाठशाला के नियत किए हुए नियम सो आपको जल्दी सुनाए देता हूँ। शेष स्त्री-शिक्षा का जो विचार था वह आज रात को हम घर पूँछ लें तब कहैंगे।"

यह हास्य अश्लील नहीं है, वरन् पाठक या श्रोता इसे पढ़ या सुनकर आनंद प्राप्त कर सकता है और लेखक के हृद्गत भावों तक भी पहुँच सकता है।

भारतेंदु जी ने विषय और भाव के अनुरूप ही अपनी शैली में यथास्थान परिवर्तन किया है। प्रत्येक भाव जैसा उनके हृदय में उठता था वैसा ही उसे प्रकट करने का वे प्रयत्न करते थे। वास्तविकता लाने में वे सदा सतर्क रहते थे। यहाँ तक कि उन्होंने अपने नाटकों में भी वास्तविकता लाने का प्रयत्न किया है। जिस देश व प्रांत के पात्र हैं, उसी देश की बोली में उनसे कथन करवाया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। यह प्रथा हिंदी में नई नहीं है। महाकवि कालिदास के नाटकों में यह बात पाई जाती है। विक्रमोर्वशी नाटक में उन्होंने ऐसा ही किया है। पुरूरवा जब उर्वशी के विरह में पागल हो जाता है तो वह अपभ्रंश—साधारण बोलचाल की—भाषा में अपना कथन करता है। जब मनुष्य आत्म-विस्मृत हो जाता है तब उसका अधिकार कृत्रिम भाषा पर नहीं रहता। वह अपनी घरेलू बोली का ही प्रयोग करने लगता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर कालिदास ने पुरूरवा द्वारा अपभ्रंश का प्रयोग करवाया है। पात्रानुकूल भाषा प्रयोग कहाँ तक उचित है? पात्रा-नुकूल भाषा-प्रयोग नाटक को यथार्थ बनाने में सहायक अवश्य होता है। विशेष प्रांत निवासी किस भाषा का जिस प्रकार प्रयोग करता है, वह उसके चरित्र-चित्रण में सहायक अवश्य होता है। परंतु यदि पात्र की भाषा ऐसी है जिसे श्रोतागण नहीं समझ सकते तो वे उसका आनंद उठाने में असमर्थ रहेंगे। उनके लिये नाटक एक प्रकार से कठपुतलियों का नाच हो जायगा। हाँ, यदि पात्र उसी भाषा में बोलें जिसमें नाटक लिखा गया है, और उसमें उनके उच्चारणानुकूल शब्द विकृत कर दिए जायँ और उनके कुछ प्रांतीय शब्दों एवं प्रयोगों का भी समावेश कर दिया जाय तो नाटक का आनंद उठाने में कठिनाई न होगी और उसमें वास्तविकता भी बहुत कुछ आ जायगी। उदाहरण के लिये चंद्रावली नाटिका की रंग-भूमि ब्रज है। वहाँ की भाषा ब्रज है। परंतु समस्त नाटक में ब्रजभाषा का ही प्रयोग नहीं किया गया है। कहीं कहीं विशिष्ट समय पर और विशिष्ट पात्रों द्वारा ही उसका प्रयोग करवाया गया है। जैसे दासी का आकर चंद्रावली से कहना कि—

"अरी, मैया खीझ रही है के वाहि घर के कछू और हूँ काम-काज हैं के एक हाहा ठीठी ही है, चल उठि, भोर सों यहीं पड़ी रही।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसा ही प्रयोग है। दास-दासी अपने देश की ही भाषा बोलते हैं। वह भाषा उनके घर की होती है। उसी में बोलने में उन्हें सुविधा होती है और दूसरी भाषा बोलने का प्रयत्न करने पर भी वे पूर्णतया सफल नहीं हो पाते हैं। चंद्रावली की सखियाँ कई स्थलों पर तो हिंदी ही में बोलती हैं परंतु कृष्ण के सम्मुख ब्रज में ही। देखिए—

"विशाखा—सखी, पीतम तेरो तू पीतम की, हम तौ तेरी टहलनी हैं। यह सब तौ तुम सबन की लीला है। यामैं कौन बोलै और बोलै हू कहा जौ कछू समझै तौ बोलै—या प्रेम की तौ अकथ कहानी है। तेरे प्रेम को परिलेख तो प्रेम की टकसाल होयगो और उत्तम प्रेमिन को छोड़कर और काहू की समझ हीं मैं न आवैगो। तू धन्य, तेरो प्रेम धन्य, या प्रेम के समझिवेवारे धन्य और तेरे प्रेम को चरित्र जो पढ़ै सो धन्य। तोमैं और स्वामिनी मैं कछू भेद नहीं है, ताहू मैं तू रस की पोषक ठहरी। बस, अब हमारी दोउन की यही बिनती है कै तुम दोऊ गलबाहीं दै कै विराजौ और हम युगल जोड़ी को दर्शन करि आज नेत्र सफल करैं।"

इसी प्रकार कृष्ण भी जब पहले पहल चंद्रावली से मिलते हैं तो अपनी ब्रज भाषा में ही वार्तालाप करते हैं—

"तौ प्यारी मैं तोहि छोड़िकै कहाँ जाउँगो, तू तौ मेरी स्वरूप ही है। यह सब प्रेम की शिक्षा करिवे कों तेरी लीला है।"

चंद्रावली भी सब जगह तो हिंदी में ही बोलती है, पर कृष्ण को देखकर उस पर भी ब्रजभाषापन का रंग चढ़ जाता है और कहती है 'पर नाथ, ऐसे निठुर क्यौं हौ? अपनों को तुम कैसे दुःखी देख सकते हौ?'

ब्रजबोली हिंदी की एक विभाषा है। इसके बोलने और समझने में हिंदी भाषा-भाषी को अधिक कठिनाई नहीं होती।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परंतु एक बंगाली महाशय, जिन पर अँगरेजी का बहुत कुछ प्रभाव पड़ गया है, हिंदी कैसी बोलते हैं। भारतेंदुजी ने भारतदुर्दशा नाटक में बंगाली महाशय द्वारा ऐसी ही भाषा का प्रयोग कराया है। यह हिंदी से मिलती-जुलती होने के कारण आनंद उठाने में बाधा नहीं डालती, प्रत्युत सहायता ही करती है।—

"सभापति साहब जो बात बोला बहुत ठीक है। इसका पेशतर कि भारत-दुर्दैव हम लोगों का शिर पर आ पड़े कोई उसके परिहार का उपाय शोचना अत्यंत आवश्यक है। किंतु प्रश्न एई है जे हम लोग उसका दमन करने शाकता कि हमारा बीज्जोंबल के बाहर का बात है। क्यों नहीं शाकता? अलबत्त शाकैगा, परंतु जो सब एक मत्त होगा। (करतल-ध्वनि) देखो हमारा बंगाल में इसका अनेक उपाय शाधन होते हैं। ब्रिटिश इंडियन असोसिएशन लोग इत्यादि अनेक शभा भी होते हैं। कोई थोड़ा बी बात होता हम लोग मिलके बड़ा गोल करते। गवर्नमेंट तो केवल गोलमाल से भय खाता और कोई तरह नहीं सुनता। ओ हुआँ का अखबारवाला सब एक बार ऐसा शोर करता है कि गवर्नमेंट को अलबत्त शुनने होता। किंतु हैयाँ, हम देखते हैं, कोई कुछ नहीं बोलता। आज सब आप सभ्य लोग एकत्र हैं, कुछ उपाय इसका अवश्य शोचना चाहिए।"

इसी प्रकार उन्होंने मुसलमान पात्रों द्वारा उर्दू का प्रयोग करवाया है। उर्दू एक तरह से हिंदी ही है, क्योंकि उर्दू में सर्वनाम क्रिया आदि शब्द हिंदी के ही हैं और केवल वाक्य-विन्यास ही फारसी के ढंग का होता है। अतः उसके समझने में भी कठिनाई नहीं होती है। पर भारतेंदुजी ने जिस उर्दू भाषा का प्रयोग मुसलमानों द्वारा करवाया है उसमें हिंदी के शब्दों का पर्य्याप्त प्रयोग किया है और वाक्य-विन्यास भी हिंदी के ही ढंग का रखा है। देखिए—नीलदेवी नाटिका में मुसलमान शरीफ कैसे कहता है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"कभी उस बेइमान से सामने लड़कर फतह नहीं मिलनी है। मैंने तो अब जी में ठान ली है कि मौका पाकर एक शब उसको सोते हुए गिरफ्तार कर लाना। और अगर खुदा को इस्लाम की रोशनी का जिल्वा हिंदोस्तान जुल्मतनिशान में दिखलाना मंजूर है तो बेशक मेरी मुराद बर आएगी।"

पाखंडियों की भाषा बड़ी विचित्र होती है। वे अपनी शुद्ध भाषा नहीं बोलते। अपनी बोली में वे कुछ शब्द अन्य बोलियों को मिलाकर एक विचित्र ढंग की भाषा बोलते हैं। 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा' के अनुसार ही वह अपनी भाषा खड़ी करते हैं। कोई कोई तो एक अक्षर के बदले दूसरे का प्रयोग करके विचित्रता लाने का प्रयत्न करते हैं। जैसे 'र' के स्थान पर 'ल' का अथवा 'च' और 'स' के स्थान पर 'छ' का प्रयोग कर अपने मन की भाषा बना लेते हैं। भारतेंदुजी ने पाखंड-विडंबन में इसका अच्छा प्रदर्शन किया है।—

(१) 'अले अले अहाहा! अले छाबाछ, छाबाछ, इछ धलम्म मैं दोनों लोअ का छुख है।

लहने को मिआ घल छुंदल छा, अलु भोअन को मिली छुंदल नाली।
लद्दु अनेअन भोजन कों मिए, छैन के एत ए छेज छुखाली।
कै छलधा जुअती छब अंगन, लाओत तेअ फुएआ छुवाली।
दै गल मैं बइयाँ छुख छो इमि, बीअत है नित लात उजाली॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेंदुजी ने वास्तविकता लाने का प्रयत्न सर्वत्र किया है। परंतु अपनी भाषा में अपनापन रखा है। जिस देश के पात्र द्वारा कथन करवाया उसकी भाषा को हिंदी ही रक्खा है, परंतु वास्तविकता दिखाने के लिये उसमें कुछ उसकी प्रांतीयता का प्रभाव दिखाकर उसकी बोली का आभास मात्र दिला दिया है। परंतु यह उनकी मर्यादित वास्तविकता लाने की इच्छा आगे चलकर पूर्णतया वास्तविक हो गई। प्रेम-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योगिनी नाटिका में उनकी वास्तविकता की भावना उच्चतम शिखर पर दिखाई देती है। इस नाटिका में भिन्न भिन्न पात्रों द्वारा भिन्न-भिन्न भाषा का प्रयोग करवाया है। पात्रों ने अपनी प्रांतीय भाषा में ही वार्तालाप किया है। परंतु भारतेंदुजी ने इतनी मर्यादा की रक्षा की है कि उनका वार्तालाप उनकी भाषा में उन्हीं के साथ करवाया है जो उनकी भाषा समझते हैं। यह नहीं कि मराठी बोलनेवाला केवल हिंदी समझनेवाले से मराठी में ही बोलता है। मराठी भाषा बोलनेवाला हिंदी समझनेवाले से हिंदी में ही वार्तालाप करेगा परंतु उसमें मराठी का प्रभाव एवं प्रयोग दिखाई पड़ेगा। प्रेमयोगिनी के चौथे अंक के कुछ पात्र मराठी बोलने और समझनेवाले हैं, और कुछ केवल हिंदी समझनेवाले। अतः वे आपस में समझ लेते हैं। जहाँ महाश और दीक्षितजी मराठी में ही वार्तालाप करते हैं वहाँ और सब साथी उसको समझकर या तो हिंदी में उत्तर देते या मराठी में—

"महाश—दीक्षितजी थोड़े से पाणी द्या, तहान बहुत लागली आहे।

बुभु०—अच्छा भाई थोड़ा सा ठहर, अत्ता उनातून आला आहेस, बूटी ही बनतेच आहे। पाहिजे तर बूटी चें च पाणी पी। अच्छा साँग तर कसे काय ब्राह्मण किती मिलाले?

महाश—गुरु, ब्राह्मण तो आज २५ निकाले, यार लोग आपके शागिर्द हैं कि और किसी के?

चंबू भट्ट—क्या भाई संच कहो—२५ ब्राह्मण मिलाले?

महाश—हो गुरु! २५ ब्राह्मण तर नुसते सहस्र भोजनाचे, परंतु आजचे वसंत पूजेचे तर शिवाय च—आणखी सभेकरतां तरपेष लावलाच आहे, पण—

गोपाल माधव—काय महाश पण काँ? सभेचें काम कुणाकड़े आहे? अणखी सभाँ कधीं होणार? आँ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस चौथे अंक में प्रायः ऐसी ही शैली चलती है। कहीं कहीं हिंदी में लोग बोल उठते हैं, परंतु अधिकतर मराठी में ही। अतः हिंदी के नाटकों में इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करना उचित नहीं। क्योंकि उसको सब श्रोतागण न समझ सकेंगे, वास्तविकता की दृष्टि से यह चाहे उचित हो। मराठी बोलने और समझनेवाले इस प्रांत में कम मिलते हैं। जो मराठी-भाषा-भाषी इस प्रांत में आकर रह गए हैं उनकी बोली में हिंदी अपना हक जमा लेती है, इसका भी अच्छा प्रदर्शन भारतेंदुजी ने किया है। इसका परिचय उपरिलिखित अंश से मिल ही गया है।

भारतेंदुजी ने अपने नाटकों में वास्तविकता लाने की तो हद कर दी है। प्रेमयोगिनी के पहले तीन अंकों में काशी की दुर्दशा का चित्रण किया है। इसमें पात्रों द्वारा काशी की उसी बोली का प्रयोग करवाया है जो यहाँ साधारणतया बोली जाती है। दुकानदार, मिश्र, नौकर-चाकर सब प्रायः एक-सी बोली बोलते हैं, परंतु मिश्र जैसा यजमान पाता है वैसी हो बोली बोलता है—

"गुजराती०—मिसिरजी, जय श्रीकृष्ण। कहो का समय है? मिश्र—अच्छी समय है मंगला की आधी समय है। बैठो।"

वही मिश्र दूसरों से अपनी बोली बनारसी में बोलता है।

"चले तो आइथे, अधियै रात के शंखनाद होय तो हम का करें। तोरे तरह से हमहू के घर में से निकस के मंदिर में घुस आवना होता तो हमहू जल्दी अउते। हियाँ तो दारानगर से आवना पड़ता है, अबहीं सुरजौ नाहीं उगे।"

इस प्रकार नौकर भी इसी भाषा का व्यवहार करता है। "चल्लै तो आवथई का महराय पड़ीं? का सुत्तल थोड़े रहली?" परंतु दुकानदारों को, जिनके ग्राहक अधिकतर सभ्य सज्जन पुरुष होते हैं, शिष्ट भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। आपस में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यद्यपि ने बनारसी में ही बोलते हैं, फिर भी वह ठेठ बनारसी नहीं रहती है। जैसे—"ई तो हई है पर उन्हैं तो ऐसी सेखी है कि सारा जमाना मूरख है और मैं पंडित। थोड़ा सा कुछ पढ़-वढ़ लिहिन है।" इसी प्रकार जो लोग कुछ अँगरेजी जानते हैं वे अपनी साधारण बातचीत में भी अँगरेजी के शब्द ठूँस देते हैं, चाहे श्रोता उसे समझे चाहे न समझे। ऐसे पात्रों का भी चित्रण भारतेंदुजी ने किया है—

"हाल क्या है सब अपने अपने रंग में मस्त हैं। काशीपरसाद अपना कोठीवाली ही में लिखते हैं, सहजादे साहब तीन घंटे में एक सतर लिखते हैं, उसमें भी सैकड़ों गलती। लक्ष्मीसिंह और शिवसिंह अच्छा काम करते हैं और अच्छा प्रयागलाल भी करते हैं, पर वह पुलिस के शत्रु हैं। और विष्णुदास बड़े cunning chap हैं। दिवानराम हईं नहीं, बाकी रहे फिजिशियन सो वे तो अँगरेज ही हैं, पर भाई मूर्खों को बड़ा अभिमान हो गया है, बात बात में तपाक दिखाते और छः महीने के लिये भेज देगा कहते हैं।"

"मैं कनमचाप नहीं समझा।"

"कनिंगचैप माने कुटीचर।"

भारतेंदुजी ने अपने नाटकों में वास्तविकता लाने का—यथा-तथ्य वर्णन करने का—कितना उद्योग किया और उसमें कितनी सफलता प्राप्त की, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा। अब देखना चाहिए कि वर्णनात्मक शैली में उन्होंने इसका ध्यान कहाँ तक रखा है। भारतेंदुजी बहुज्ञ और बहुश्रुत थे। जिस विषय का वर्णन करते थे उसका चित्र सा खड़ा कर देते थे। साधारण से साधारण घटना का वर्णन भी इस प्रकार करते थे कि मानो वह आँख के सामने घटित हो रही हो। वस्तु-वर्णन पढ़ने और उसके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देखने में बहुत अंतर होता है। परंतु भारतेंदुजी का वस्तु-वर्णन पढ़ने से ही उसके देखने सा—आँखों के सामने प्रत्यक्ष होने सा—आनंद प्राप्त होता है। उदाहरण के लिये देखिए—

जंगल में राग रागिनी का जमघट जमा देख शहर में गुनियों ने अपना भी खटराग अलग निकाला। मियाँ तानसेन का नाम ले लेकर कानों पर हाथ रख रख लगे सुलझी सुलझी तानें लेने और गवैयापन का दम भरने। गोद में ढोलक गुटकती थी, बगल में बैठे सितार कुछ जुदा गुनगुना रहे थे। इधर से तानपूरे अलग कान भरते थे, मिरदंग गाना सुनके अलग ही वेताब हो रही थी, मुरचंग रीझ रीझकर मुँह अलग चूम लेते थे, कहीं रबाब बजानेवाले उलझे पड़ते थे, कहीं मँजीरे ताल सम पर सिर हिला रहे थे, सब मिलकर एक अजब सुर बँध रहा था।

कैसा 'समा बाँध' दिया है। प्रत्येक शब्द एक विशेष भाव प्रकट कर रहा है। एक भी शब्द निरर्थक नहीं है। गवैयों के जमघट का चित्र सा खड़ा कर दिया है।

भारतेंदुजी ने प्रकृति-वर्णन बहुत कम किया है, पर जो कुछ किया है वह अनूठा ही किया है। गंगा और यमुना की सुषमा का जो वर्णन किया है वह बहुत ही उत्तम कोटि का है। इसके वर्णन में उन्होंने उत्प्रेक्षा, उपमा आदि अलंकारों की सहायता ली है और उसको भावपूर्ण बनाने की चेष्टा की, इसलिये वह शुद्ध प्रकृति-वर्णन नहीं है। वास्तव में बात यह है कि कवि जिस वस्तु या दृश्य का वर्णन करता है, उसका वर्णन वैसा ही होता है जैसा उसके हृदय पर उसके देखने से प्रभाव पड़ता है। काव्य-जगत् में कवि हृदय-पट पर खचित चित्र से भिन्न उनकी स्थिति नहीं होती है। अतः प्राकृतिक दृश्य का जैसा प्रभाव कवि-हृदय पर पड़ता है वैसा ही वर्णन वह करता है। भारतेंदुजी का प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन ऐसा ही है। सत्य-हरिश्चंद्र नाटक में जिस गंगा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का और चंद्रावली नाटिका में जिस यमुना का वर्णन किया गया है, वह वही है जिस रूप में उन्होंने उनको देखा और जैसा भाव उनका उनके हृदय में आया वैसी ही भाषा में उसका वर्णन किया। भावात्मक प्रकृति-वर्णन में शैली प्रायः भाव-प्रधान होती है। इस गंगा-यमुना के वर्णन में भारतेंदुजी की ऐसी ही शैली मिलती है। वह गंगा काशी के विशालकाय घाटों के नीचे बहती हुई गंगा है जिसमें असंख्य स्त्री-पुरुष पाप-प्रक्षालनार्थ तथा लीलार्थ अवगाहन कर रहे हैं। कवि अंत में इस दृश्य से इतना मोहित हो जाता है कि उसकी दृष्टि थक जाती है और वह गंगा की शोभा का वर्णन करने में अपने को असमर्थ पाता है।

नव उज्जल जल-धार, हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता-मनि पोहति ॥
लोल लहर लहि पवन एक पैं इक इमि आवत।
जिमि नर-गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत ॥

× × × ×

कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यो जग धाई।
सपने हू नहिं तजी, रही अंकम लपटाई ॥
कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिवर-सम सोहत।
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी, बढ़ी मन मोहत जोहत ॥

× × × ×

मधुरी नौबत बजत, कहूँ नारी-नर गावत।
वेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत ॥
कहुँ सुंदरी नहात बारि कर-जुगल उछारत।
जुग-अंबुज मिलि मुक्तगुच्छ मनु सुच्छ निकारत ॥
धोवत सुंदरि बदन करन अति ही छवि पावत।
वारिधि नाते ससि कलंक मनु कमल मिटावत ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुंदरि सखि मुख नीर मध्य इमि सुंदर सोहत।
कमल बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत॥
दीठि जहीं जहँ जात रहत तितही ठहराई।
गंगा-छबि हरिचंद कछू बरनी नहिं जाई॥

यमुना का वर्णन भी इसी प्रकार का है। यह चंद्रावली नाटिका के चौथे अंक में सखी द्वारा वर्णित है। कहीं कहीं प्रिय-मिलन की ओर संकेत, कहीं उपमा, उत्प्रेक्षा आदि द्वारा बिंब-ग्रहण कराने की चेष्टा है और कहीं प्राकृतिक दृश्य का वर्णन। यह चित्रण बड़ी सरस, भावुक और हृदयग्राही भाषा में है।

"अहा! यमुनाजी की कैसी शोभा हो रही है। जैसा वर्षा का बीतना और शरद का आरंभ होना, वैसा ही वृंदाबन के फूलों की सुगंधि से मिले हुए पवन की झकोर से यमुनाजी का लहराना कैसा सुंदर और सुहावना है कि चित्त को मोहे लेता है। आहा! यमुनाजी की शोभा तो कुछ कही नहीं जाती! निस्संदेह इस समय बड़ी ही शोभा है।

तरनि-तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल-परसन-हित मनहुँ सुहाए॥

× × × ×

कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज सोभा।
कै उमगे पिय प्रिया प्रेम के अनगिन गोभा॥
कै करिकै कर बहु पीय कों टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई॥

× × × ×

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कै व्रज-तिय-गन-वदन-कमल की झलकत झाईं ।
कै व्रज हरिपद-परस हेत कमला बहु आईं ॥
कै सात्विक अरु अनुराग दोऊ व्रजमंडल वगरे फिरत ।
कै जानि लच्छमी-भौन एहि करि सतधा निज जल धरत ॥
तिन पै जेहि छिन चंद जोति राका निसि आवति ।
जल मैं मिलकै नभ अवनी लौं तान तनावति ॥
होत मुकुरमय सबै तबै उज्जल इक ओभा ।
तन मन नैन जुड़ात देखि सुंदर सो सोभा ॥
सो को कवि जो छवि कहि सकै ता छन जमुना-नीर की ।
मिलि अवनि और अंबर रहत छवि इक सी नभ-तीर की ॥

भारतेंदुजी बड़े भावुक कवि थे। निरा इति वृत्तात्मक वर्णन अधिकतर नीरस रहता है। वह आनंददायक हो इसलिये आवश्यक है कि वह सरस हो। भारतेंदुजी का यह प्रयत्न सर्वत्र दिखाई देता है, चाहे गद्य हो चाहे पद्य। भावुक और पंडित कवि के लिये दोनों क्षेत्र समान होते हैं। वह अपनी भावुकता एवं सरसता दोनों में प्रकट कर देता है। जहाँ भावुक होने का स्थल नहीं है वहाँ भी वह उसके लिये स्थान खोज निकालता है। कभी कभी ऐसे स्थल अनुपयुक्त होते हैं, परंतु भारतेंदुजी के वर्णन में कहीं अनुपयुक्तता नहीं आई है। काशी नगरी का वर्णन शुद्ध इति-वृत्तात्मक हो सकता है। परंतु इसमें भी भारतेंदुजी ने अपनी भावुकता का प्रदर्शन किया है। अलंकारों के साथ साथ, किसी ध्वनि को सुनकर हृदय पर कैसा प्रभाव पड़ता है, भावुक कवि के ही द्वारा यह वर्णित हो सकता है। देखिए—

"काशी का नामांतर वाराणसी है, जहाँ भगवती जह्नु-नंदिनी उत्तरवाहिनी होकर धनुषाकार तीन ओर से ऐसो लपटी हैं, मानों शिव की प्यारी जानकर गोद में लेकर आलिंगन कर रही हैं, और अपने पवित्र जलकण के स्पर्श से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तापत्रय दूर करती हुई मनुष्य मात्र को पवित्र करती हैं। उसी गंगा के तट पर पुण्यात्माओं के बनाए बड़े बड़े घाटों के ऊपर दोमंजिले चौमंजिले पँच-मंजिले और सतमंजिले ऊँचे ऊँचे घर आकाश से बातें कर रहे हैं, मानो हिमालय के श्वेत शृंग सब गंगा-सेवन करने को एकत्र हुए हैं। उसमें भी माधोराय के दोनों धरहरे तो ऐसे दूर से दिखाई देते हैं मानों बाहर के पथिकों को काशी अपने दोनों हाथ ऊँचे करके बुलाती है। साँझ-सवेरे घाटों पर असंख्य स्त्री-पुरुष नहाते हुए, ब्राह्मण लोग संध्या वा शास्त्रार्थ करते हुए, ऐसे दिखलाई देते हैं मानों कुवेरपुरी में अलकनंदा में किन्नरगण और ऋषिगण अवगाहन करते हैं। और नगाड़ा-नफीरी, शंख-घंटा, झाँझ, स्तव और जय का तुमुल शब्द ऐसा गूँजता है मानों पहाड़ों की तराई में मयूरों की प्रतिध्वनि हो रही हैं; उसमें भी जब कभी दूर से साँझ को वा बड़े सबेरे नौबत की सुहानी धुन कान में आती है तो ऐसी भली मालूम पड़ती है कि एक प्रकार की झपकी सी आने लगती है। और घाटों पर सवेरे धूप की झलक और साँझ को जल में घाटों की परछाँहीं की शोभा भी देखते ही बन आती है।"

यह एक साधारण सा नियम है कि कोई भाषा साहित्यिक रूप धारण करने के पहले किसी प्रांत-विशेष की बोलचाल की भाषा रहती है। ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी आदि भाषाएँ अपने अपने प्रांतों में बोली जाती थीं और समय समय पर उनमें साहित्य का निर्माण भी होता रहता था। खड़ी बोली—हिंदी—भी मेरठ और इसके आसपास के प्रांतों में बोली जाती थी। इस बोल-चाल की भाषा को सुगम समझकर या पहले-पहल इसी से काम पड़ने के कारण मुसलमान आक्रमणकारियों ने इसी भाषा को इस देशवासियों से विचार-विनिमय के लिये चुना। इसमें वे अपनी भाषा के शब्द रखकर अपने व्यवहार में लाने लगे। इस प्रकार बोलचाल की एक मिश्रित भाषा बनी जिसका नाम उर्दू पड़ा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फिर समयानुकूल इसमें साहित्य का भी निर्माण आरंभ हुआ। भारतेंदुजी धर्म के संबंध में बड़ी उदार प्रकृति के थे, परंतु हिंदू-मुसलमान-विरोध के परिपोषक नहीं थे। उनका हृदय स्वदेशभक्ति और स्वमातृभाषा-प्रेम के भावों से इतना भरा हुआ था कि वे ऐसी खिचड़ी भाषा को न अपना सके जिसमें अभारतीय—विजातीय—शब्दों की अकारण भरमार हो। उन्होंने शुद्ध स्वदेशी और सरल एवं सरस भाषा को ही अपनाया। उन्होंने अरबी-फारसी तथा अँगरेजी के उन्हीं शब्दों को अपनाया जो संस्कार एवं शासन द्वारा भारतीय हो गए थे। उन्होंने भाषा को परिमार्जित करके बहुत ही चलता हुआ मधुर तथा स्वच्छ रूप दिया। उनके भाषा-संस्कार की महत्ता बहुत बढ़ी-चढ़ी हुई है।

हिंदी-काव्य-परम्परा में तब तक ब्रज तथा अवधी भाषाओं की प्रधानता थी। कविगण प्राचीन परम्परागत काव्य-भाषा को ही अपनाते चले आते थे। बहुतेरे शब्द, जिनको बोलचाल से उठे शताब्दियाँ व्यतीत हो गई थीं, कवियों द्वारा व्यवहृत हो रहे थे। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश-काल तक के कितने शब्द, जो किसी बोल-चाल में प्रयुक्त नहीं होते थे, बराबर कविता में लाए जाते थे। चक्कवै, ठायो, करसायल, ईठ, दीह, ऊनो, लोय आदि के कारण बहुत से लोग हिंदी की कविता को अपने से कुछ दूर की चीज समझने लगे थे। भारतेंदुजी ने ऐसे पड़े सड़े शब्दों को बिलकुल निकाल बाहर किया। कविता में जो शब्दों की पच्चीकारी की जाती थी और तोड़-मरोड़कर, अंगभंग करके उनका मन-गढ़ंत प्रयोग होता था; उन सब दोषों को भी भारतेंदुजी ने दूर किया। इस प्रकार काव्य-भाषा को परिमार्जित (संस्कार) कर उसे भी चलता हुआ सरल तथा सुंदर रूप प्रदान किया। जो काव्य की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्रजभाषा जनसाधारण की बोलचाल से दूर पड़ गई थी और जिसे कुछ इने गिने लोग ही समझ सकते थे, अब फिर इस परिष्कृति से अपने सीधे मार्ग पर आ गई थी। जो लोग ब्रज-भाषा की दुरूहता के कारण उससे दूर हटे जा रहे थे वे फिर उसे अपनाने लगे। भारतेंदुजी के कवित्तों तथा सवैयों के सर्व-प्रिय होने का प्रधान कारण यही भाषा-संस्कार था। उदाहरण के लिये देखिए उन्होंने कितना सरल, सरस और सुंदर पद ब्रज-भाषा में लिखा है।

(१) आजु लौं जौ न मिले तो कहा हम तो तुमरे सब भाँति कहावैं।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं सबै फल आपने भाग को पावैं॥
जो हरिचंद भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा की समै सब कंठ लगावैं॥

(२) सोई तिया अरसाय के सेज पै सो छबि लाल बिचारत ही रहे॥
पोंछि रुमालन सों श्रम-सीकर भौंरन को निरुवारत ही रहे।
त्यों छबि देखिवे को मुख तें अलकैं हरिचंद जू टारत ही रहे।
द्वैक घरी लौं जके से खरे वृषभानु-कुमारी निहारत ही रहे॥

मनुष्य सौंदर्य-प्रिय प्राणी है। वह सब बातों में सुंदरता की खोज करता है और अपनी प्रत्येक वस्तु को सुंदरतम बनाने का उद्योग करता है। सौंदर्य-संबंधी इसी अनुराग से प्रेरित होकर वह अपने भावों, विचारों, कल्पनाओं और उनके वर्णनों आदि को भी सुंदर बनाने का उद्योग करता है। इसी मनोवृत्ति की प्रेरणा से सौंदर्य-विधायक अलंकारों की सृष्टि हुई है। जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा बढ़ा देते हैं, उसी प्रकार अलंकार भी भाषा के सौंदर्य की वृद्धि करते हैं। इन्हें शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म कहा है। क्योंकि जैसे भूषणों के बिना भी शरीर की नैसर्गिक शोभा बनी रहती है, उसी प्रकार अलंकारों के न रहने पर भी शब्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और अर्थ की सहज सुंदरता और मधुरता बनी रहती है। जिस प्रकार मनुष्य के गुण स्थिर होते हैं, पर उसका अलंकरण—भूषण—अस्थिर होता है, उसी प्रकार काव्य के गुण और अलंकार होते हैं। फिर अलंकार के दो भेद होते हैं। शब्द और अर्थ दोनों काव्य के शरीर हैं। इसी आधार पर शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दो भेद किए गए हैं। शब्दों में चमत्कार उत्पन्न करनेवाले अनुप्रास, यमक आदि अलंकार तभी तक सुंदर लगते हैं जब तक वे बिना प्रयास आप से आप सहज ही आ जाते हैं। अर्थालंकार काव्य के भावों की अनुभूति को तीव्र करने या वर्णित वस्तुओं के रूप, गुण, क्रिया आदि का उत्कर्ष दिखाने में सहायक होते हैं। जिस कवि की भाषा में आप से आप अलंकारों का प्रस्फुटन होता है, उसी की भाषा भाषाओं का अलंकार है। जब अलंकारों के लिये ही कविता की जाती है, तब उसकी भाषा में स्वाभाविकता नहीं रह जाती। अलंकार साधक हैं, साध्य नहीं। अलंकार शोभा बढ़ाने के लिये लाने चाहिएँ। उनके बोझ से भाषा को लादकर निर्जीव अथवा नीरस बनाने की चेष्टा न करनी चाहिए। जब अलंकारों की अकारण भरती की जाती है, तब वे सौंदर्य-विधायक नहीं रह जाते, अपितु भारमात्र होकर सुंदरता के ग्राहक हो जाते हैं। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने अलंकारों का प्रयोग सौंदर्य-उत्कर्षक के रूप में ही किया है। अलंकार उनकी रचना में आपसे आप आ जाते हैं। इसके लिये कहीं भी उनको प्रयत्न नहीं करना पड़ा। उनके अलंकारों के संस्कृत प्रयोग उनकी भाषा को और भी स्वाभाविक एवं सरस बना देते हैं। देखिए निम्नलिखित कवित्त में उन्होंने कितने भाव सरल शब्दों और गठी हुई भाषा में कहे हैं। प्रसाद, माधुर्य, अर्थ-संक्रमण, कांति आदि कई गुण वर्तमान हैं। यमक, श्लेष, अनुप्रास के साथ साथ क्रम, स्मरण, स्वभावोक्ति आदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अलंकार आपसे आप आ गए हैं। कवि को इनके लाने के लिये कुछ भी प्रयास नहीं करना पड़ा। भाषा की मधुर एवं स्वाभाविक धारा श्रोता तथा पाठक को मुग्ध कर देती है।

देखि घनस्याम घनस्याम की सुरति करि,
जिय मैं बिरह घटा घहरि घहरि उठै।
त्यों ही इंद्रधनु-बगमाल देखि बनमाल,
मोतीलर पिय की जिय लहरि लहरि उठै॥
हरीचंद मोर पिक धुनि सुनि बंशीनाद,
बाँकी छबि बार बार छहरि छहरि उठै।
देखि देखि दामिनी की दुगुन दमक पीत,
पट छोर मेरे हिय फहरि फहरि उठै॥

दूसरा उदाहरण सांग-रूपक का देखिए। पावस को लेकर श्मशान का रूपक खड़ा किया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष, अनुप्रासादि अलंकारों की कमी न होते हुए भी वर्णन स्वाभाविक है। इसमें भाव की अनुभूति तथा वर्णित विषय दोनों उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं—

चपला की चमक चहूँधा सों लगाई चिता,
चिनगी चिलक पटबीजना चलायो है।
हेती बगमाल स्याम बादर सु भूमि कारी,
बीरवधू लहू बूँद भुव लपटायो है॥
हरीचंद नीर-धार आँसू सी परत जहाँ,
दादुर को सोर रोर दुखिन मचायो है।
दाहन वियोग दुखियान को मरे हू यह,
देखो पापी पावस मसान बनि आयो है॥

इसी प्रकार का एक हिँडोले का रूपक भी बड़ा सुंदर है। चंद्रावली के नेत्र तो आप ही आप हिँडोला झूलते रहते हैं, वह हिँडोले पर क्या करेगी झूलकर—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पल पाटुली पै डोर प्रेम की लगाय चारु,
आसा ही के खंभ दोय गाड़ के धरत हैं।
झुमका ललित काम पूरन उछाह भर्‌यो,
लोक बदनामी झूमि झालर झरत हैं॥
हरीचंद आँसू दृग नीर बरसाइ प्यारे,
पिया गुन-गान सो मलार उचरत हैं।
मिलन मनोरथ के झोंटन बढ़ाइ सदा,
विरह हिंडोरे नैन झूल्योई करत हैं॥

भ्रमर बैर को देखकर लोभ के मारे उसी पर बौराया हुआ मँडरा रहा है। यहाँ भ्रमर के बहाने प्रिय में प्रिया के प्रति प्रीति पैदा होने का कथन किया गया है। इसमें स्वभावोक्ति अलंकार है जिसका आप ही आप प्रस्फुटन हुआ है।

भौंरा रे बौरान्यो लखि बौर।
लुवध्यौ उतहि फिरत मँडरान्यौ जात कहूँ नहिं और॥

तपस्वी सत्यवान् को देखकर सभी मोहित हो जाते हैं। उसके रूप-सौंदर्य का अति-अनुरंजक वर्णन संदेहालंकार द्वारा किया गया है। रूप का अनुभव तीव्र करने में यह सब तरह से सहायक हो रहा है—

लखो सखि भूतल चंद खस्यो।
राहु-केतु-भय छोड़ि रोहिनिहि या बन आई बस्यो।
कै सिव-जय-हित करत तपस्या मनसिज इत निवस्यो॥
कै कोऊ बनदेव कुंज में बन बन विहार विलस्यो॥

जब कुछ विशेष अभिप्राय लिए हुए विशेषण का प्रयोग किया जाय तब उसे परिकर अलंकार कहते हैं। देखिए निम्नलिखित पद में सुजान शब्द पर यही अलंकार घटित किया गया है, और पद भर में चमत्कार उत्पन्न कर दिया है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लै मन फेरिबो जानौ नहीं बलि नेह निबाह किये नहिं आवत ।
हेरि कैं फेरि मुखै हरिचंद जू देखन हू को हमैं तरसावत ॥
प्रीत पपीहन को घन साँवरे पानिप रूप कबौं न पिआवत ।
जानौं न नेक विथा पर की बलिहारी तऊ है सुजान कहावत ॥

और निम्नलिखित दोहे में श्लेष का चमत्कार देखिए। सरलता के साथ पाँच पाँच अर्थ हो जाते हैं—

सत्यासक्त दयाल द्विज, प्रिय अघहर सुखकंद ।
जनहित कमलातजन जय शिव नृप कवि हरिचंद ॥

लोकोक्ति अलंकार का भारतेंदुजी बड़ा ही सुंदर प्रयोग करते थे। इससे उनकी भाषा में कुछ विशेष लालित्य एवं स्वाभाविकता और चलतापन आ जाता था। उदाहरण देखिए—

(१) प्रान पियारे तिहारे लिये सखि बैठे हैं देर सो मालती के तर ।
तू रही बातैं बनाय बनाय मिलैं न वृथा गहि कै कर सों कर ॥
तोहिं घरी छिन बीतत है हरिचंद उतै जुग सो पलहू भर ।
तेरी तो हाँसी उतै नहिं धीरज नैा घरी भद्रा घरी में जरै घर ॥

(२) ऊधो जू सूधो गहो वह मारग ज्ञान की तेरे जहाँ गुदरी है ।
कोऊ नहीं सिख मानि हैं ह्याँ इक श्याम की प्रीति प्रतीति खरी है ॥
ये व्रजबाल सबै इक सी हरिचंद जू मंडली ही बिगरी है ।
एक जैा होय तो ज्ञान सिखाइए कूप ही में यहाँ भाँग परी है ॥

मुहावरों की उत्पत्ति विभिन्न कारणों एवं अनेक सूत्रों से होती है। मनुष्य के कार्यक्षेत्र विस्तृत हैं, उसके मानसिक भाव भी अनंत हैं। घटना और कार्य-कारण-परंपरा से जैसे असंख्य वाक्यों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार मुहावरों की भी। अनेक अवसर ऐसे उपस्थित होते हैं, जब मनुष्य अपने मन के भावों को कारण-विशेष से संकेत, इंगित या व्यंग्य द्वारा प्रकट करना चाहता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। कभी उनको थोड़े शब्दों में वह प्रकट करना चाहता है जिनके लिये अधिक विस्तृत वाक्यों के प्रयोग की आवश्यकता उसे अभीष्ट नहीं होती। प्रायः हास-परिहास, घृणा, क्रोध, आवेग, उत्साह आदि के अवसर पर उस प्रवृत्ति के अनुकूल वाक्य-योजना होती है। सामयिक अवस्था एवं परिस्थिति का भी इनमें बहुत बड़ा हाथ होता है। ऐसी ही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज में मुहावरों की उत्पत्ति होती है। जिस समाज या देश में मुहावरे उत्पन्न होते हैं वे उसी देश में अधिक प्रचलित होते हैं। अतः वे वहीं के लिये अधिक उपयोगी होते हैं। फारसी या अँगरेजी के मुहावरे भारतीय परिस्थिति के अनुकूल नहीं हो सकते। उनके भाव यहाँ ठीक ठीक नहीं घट सकते। मनुष्य-मात्र में भाव-साम्य होने के कारण कुछ मुहावरों के भाव तो मिलते हैं और उनका उपयोग भी होता है। परंतु उनको फारसी या अँगरेजी से अनूदित न मानना चाहिए।

मुहावरों का प्रयोग बोलचाल में अधिक होता है। साहित्य में भी इसका प्रयोग होता है। साहित्य में मुहावरों के प्रयोग को लोकोक्ति अलंकार माना गया है। यह साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है और इसका प्रवेश संसार भर की सभी भाषाओं में पाया जाता है। भाषा-संबंधी कार्यों में इनके द्वारा अनेक सुविधाएँ होती हैं। इनकी सहायता से विचारों को प्रकट करने में बहुत बड़ा सहारा मिलता है। अनेक मानसिक भाव थोड़े शब्दों में ही मुहावरों द्वारा प्रकट और प्रभावोत्पादक किए जा सकते हैं। लेख मुहावरों द्वारा चटकीले हो जाते हैं। कविता चटपटी हो जाती है और साथ ही उनमें भाव-गांभीर्य भी आ जाता है। मुहावरों की भाषा बड़ी गठी तथा मँजी हुई होती है। वह सहज ही में हृदयंगम हो जाती है। इनके प्रयोग से भाषा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में बल आ जाता है और बहुतेरे भाव खिल उठते हैं। भारतेंदुजी की भाषा इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

दो भिन्न जातियों के मिलने पर जिस प्रकार उनके व्यवहार, भाषा आदि पर एक दूसरे का प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार मुहावरों पर भी। एक भाषा के मुहावरे दूसरी भाषा में घुस जाते हैं। मनुष्य-मात्र के भाव-साम्य के आधार पर एक भाषा के मुहावरे दूसरी भाषा में गृहीत हो सकते हैं परंतु उनका अनुवाद प्रायः नहीं हो सकता। भावानुवाद तो हो सकता है और होता भी है। शाब्दिक अनुवाद भी होता है, परंतु भाव के आधार पर ही यह उत्तम होता है। हिंदी भाषा में भी अन्य भाषाओं—फारसी (उर्दू) और अँगरेजी—के मुहावरे यथातथ्य अथवा अनूदित होकर आए हैं। मुसलमानों के राज्य-काल में उर्दू ही राजभाषा थी। इसमें फारसी के मुहावरों का आधिक्य स्वाभाविक ही था। जब हिंदी और उर्दू का संबंध और घनिष्ठ हुआ तब उर्दू के मुहावरे हिंदी में भी आए और प्रयुक्त होने लगे। इसी प्रकार अँगरेजी के मुहावरे भी अब आने लगे हैं। परंतु प्रत्येक भाषा का अपना व्यक्तित्व होता है और उसकी सत्ता पृथक् तथा स्वतंत्र होती है। हिंदी भाषा का व्यक्तित्व फारसी और अँगरेजी से पृथक् है। इसमें उनके मुहावरों का प्रयोग उन्हीं भावों के साथ नहीं हो सकता। जहाँ भाव-साम्य है, वहाँ उनके स्थान पर हिंदी के मुहावरे प्रयुक्त हो सकते हैं। परंतु जिस भाव-विशेष के लिये हमारे यहाँ मुहावरा नहीं है, उसके लिये अँगरेजी या फारसी से अनुवाद कर मुहावरों का प्रयोग ठीक न होगा। मुहावरे किसी विशेष समाज की कृति हैं। अनुकरण में वह लालित्य तथा सौंदर्य नहीं आता। सत्य बात तो यह है कि किसी भाषा के मुहावरों का दूसरी भाषा में अनुवाद होना प्रायः असंभव है। तरदामनी, ग़ुनचा दहन, ज़बान दराज़, चिराग़े सहरी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदि मुहावरे अपने शुद्ध रूप में ही हैं। यदि उनका शाब्दिक अनुवाद करके रखा जाय तो हिंदी में वे उन भावों के द्योतक न होंगे जिन भावों के द्योतक वे फारसी में हैं। 'चिराग़े-सहरी' का अनुवाद हम 'प्रभात-प्रदीप' करें तो उसका अर्थ प्रातःकाल का दीप तो हो जायगा, किंतु उसका भावार्थ मरणोन्मुख अथवा कुछ क्षण का मेहमान समझा जाना कठिन है। कारण इसका यही है कि इस अर्थ में प्रभात-प्रदीप का प्रयोग हिंदी में नहीं होता है। 'ज़बाँ दराज़ी' का शब्दार्थ है जबान का लंबा होना और भावार्थ है—बढ़ बढ़कर बातें करना। अतः इसका भावानुकूल अनुवाद हो सकता है। इसी प्रकार अँगरेजी के मुहावरे भी। To wear one's heart on one's sleeve, Something at the bottom, To rain cats and dogs, To make an ass आदि कुछ अँगरेजी के मुहावरे हैं जिनका शब्दार्थ किया जाय तो शायद ही कोई वास्तविक अर्थ तक पहुँच सके। To wear one's heart on one's sleeve का शब्दार्थ है अपने आस्तीन पर दिल रखना, परंतु भाव इसका है कलेजा निकालकर दिखाना। दाल में काला होना, मूसलधार पानी बरसना, मूर्ख (गदहा) बनाना आदि मुहावरे हिंदी में प्रयुक्त होते हैं। अँगरेजी के मुहावरों के भाव लेकर उनके स्थान में इनका प्रयोग हो सकता है।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने अपनी भाषा में मुहावरों का खूब प्रयोग किया है। इससे उनकी भाषा में सरलता, सरसता और सजीवता तो आ ही गई है, साथ ही साथ प्रभावोत्पादकता भी आई है। भारतेंदुजी ने जो भाषा-संस्कार में विजातीयता को दूर करने का प्रयत्न किया था, उसका प्रभाव मुहावरों के प्रयोग पर भी पड़ा। उर्दू के अथवा अँगरेजी के मुहावरों का प्रयोग उन्होंने नहीं ही किया। कुछ मुहावरे ऐसे हैं जिनमें उर्दू के शब्द प्रयुक्त हुए हैं, परंतु इससे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वे उर्दू के मुहावरे नहीं बन जाते। उर्दू के बहुत से शब्द हिंदी में प्रयुक्त होते हैं, पर इससे हिंदी उर्दू तो नहीं बन जाती हैं। भारतेंदुजी जिन उर्दू शब्दों का प्रयोग करते थे यह आपको प्रकट हो ही गया होगा। वैसे ही चलते हुए उर्दू शब्दों का प्रयोग मुहावरों में कहीं कहीं हुआ है। उदाहरण के लिये देखिए 'रुख' शब्द उर्दू का है। इसका प्रयोग बोलचाल में होता है। यह शब्द हिंदी का—भारतीय—हो गया है। अब इसमें विजातीयता नहीं रह गई है। 'रुख लिए रहना' मुहावरा है। इसका प्रयोग भारतेंदुजी ने इस प्रकार किया है—

(१) पिय रूसिबो लायक होय तो रूसनो वाही सों चाहिए मान किए।
हरिचंद तौ दास सदा बिन मोल को बोलै सदा रुख तेरो लिए॥
रहै तेरे सुखै सों सुखी नित ही मुख तेरो ही प्यारी विलोकि जिए।
इतने हू पै जानै न क्यों तू रहै सदा पिय सों भौंह तनेनी किए॥

(२) सास जेठानिन सों दबती रहै लीने रहै रुख त्यों ननदी को।
दासिन सों सतराय नहीं हरिचंद करै सनमान सखी को॥
पीय को दच्छिन जानि न दूसत चोगुनो चाउ बढ़ैया लली को।
सौतिनहू को असीसै सुहाग करै कर आपने सेंदुर टीको॥

इससे यह नहीं प्रमाणित किया जा सकता कि भारतेंदुजी उर्दू के मुहावरों का प्रयोग करते थे। भारतेंदुजी ने उर्दू के शेरों में छोड़कर और कहीं 'उर्दू मुहावरों' का प्रयोग नहीं किया है। उन्हें विजातीयता से प्रेम न था। वे अपने निजत्व की रक्षा करना चाहते थे और उसको और दृढ़ करने के लिये दूसरों के गुण लिया करते थे। अतः उन्होंने हिंदी के मुहावरों का प्रयोग किया ही है और उर्दू के मुहावरों को तो अपना करके ही।

गद्य में भी मुहावरों के प्रयोग से चमत्कार आ जाता है। यद्यपि वह गद्य में न होकर पद्य में ही अधिकतर होता है परंतु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रभावोत्पादक बनाने के लिये यह आवश्यक होता है। कुछ गद्य के उदाहरण देखिए—

(१) हाय ! स्नेह लगाकर दगा देने पर भी सुजान कहलाते हो। बकरा जान से गया, पर खानेवाले के स्वाद न मिला।

(२) हाय हाय ! कैसे कैसे दुःखी लोग हैं—और मजा तो यह है सब धान बाइस पसेरी।

(३) हाय मैं किससे कहती हूँ। कोई सुननेवाला है। जंगल में मोर नाचा किसने देखा। नहीं नहीं वह सब देखता है।

(४) हैं—उनको हमारी इस बखत फिकर होगी। मान न मान मैं तेरा मेहमान। मन को अपने ही मतलब की सूझती है। मेरो पिय मोहि बात न पूछै तऊ सोहागिन नाम।

(५) हाय बहुत ही बुरा हुआ, बुढ़िया मरने का डर नहीं जम परचने का डर है। परचल गोह करौंदा खाय।

(६) ए भाई कुछ कहना भी तो झख मारना है। पासा पड़े सो दाव, राजा करे सो न्याव।

(७) अहा धन्य है सर्कार ! यह बात कहीं नहीं है। दूध का दूध पानी का पानी।

(८) क्या हुआ जो धन-मान सब गया एक जिंदगी हजार नियामत है।

(९) कुछ पढ़े लिखे मिलकर देश-सुधार करना चाहते हैं। हा हा हा हा ! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे।

गद्य की अपेक्षा पद्य में मुहावरों के प्रयोग से अधिक चमत्कार उत्पन्न होता है, क्योंकि चमत्कार पद्य का ही गुण है। पद्य में गद्य की अपेक्षा विस्तार का स्थान कम होता है। भावों को थोड़े शब्दों में यथातथ्य प्रगट करने के लिये मुहावरों से बड़ी सहायता मिलती है। कविता में मुहावरों के प्रयोग से भावों को भी

२९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुष्टि होती है और कविता प्रभावुक बन जाती है। दो-चार उदाहरण देखिए—

(१) छिपाए छिपत न नैन लगे।
उघरि परत सब जानि जात हैं घूँघट में न खगे॥
कितनौ करौ दुराव दुरत नहिं जब ये प्रेम पगे।
निडर भए उघरे से डोलत मोहन रंग रँगे॥

(२) रँग दूसरो और चढ़ैगो नहीं अलि साँवरो रंग रँग्यो सो रँग्यो।

(३) जानत हो सब मोहन के गुन तौ पुनि प्रेम कहा लगि कीनो।
त्यों हरिचंद जू ल्याहि सबै चित्त मोहन के रस रूप में भीनो॥
तोरि दई उन प्रीति उतै अपवाद इतै जग को हम लीनो।
हाय सखी इन हाथन सों अपने पग आप कुठार मैं दीनो॥

(४) पहिले बहु भाँति भरोसो दियो अब ही हम लाई मिलावती हैं।
हरिचंद भरोसे रही उनके सखियाँ जो हमारी कहावती हैं॥
अब वेई जुदा ह्वै रहीं हम सों उलटो मिलि कै समुझावती हैं।
पहिलै तो लगाइ कै आग अरी जल को अब आपुहिँ धावती हैं॥

(५) तुम्हरे तुम्हरे सब कोऊ कहैं तुम्हैं सो कहा प्यारे सुनात नहीं।
विरुदावली आपुनी राखौ मिलौ मोहि सोचिबे को कोऊ बात नहीं॥
हरिचंद जू होनी हुती सो भई इन बातन सों अब कछु हाथ नहीं।
अपुनावते सोच विचारि तबै जलपान कै पूछनो बात नहीं॥

(६) कुबजा जग के कहा बाहर है नंदलाल ने जा उर हाथ धर्‌यौ।
मथुरा कहा भूमि की भूमि नहीं जहँ जाय कै प्यारे निवास कर्‌यौ॥
हरिचंद न काहू को दोष कछू मिलिहै सोई भाग में जो उतर्‌यौ।
सबको जहाँ भोग मिल्यौ तहाँ हाय वियोग हमारे ही बाँटे पर्‌यौ॥

(७) जानि सुजान मैं प्रीति करी सहि कै जग की बहु भाँति हँसाई।
त्यों हरिचंद जू जो जो कह्यो सो कर्‌यो चुप ह्वै करि कोटि उपाई॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सोऊ नहीं निबही उनसों उन तोरत बार कछू न लगाई ।
साँची भई कहनावति वा अरी ऊँची दुकान की फीकी मिठाई ॥

भारतेंदुजी ने अपनी रचना में मुहावरों और लोकोक्तियों दोनों का प्रयोग किया है। एक पद में एक ही मुहावरा नहीं आया है परंतु कई एक साथ। मुहावरों की इस प्रकार की छटा देखनी हो तो निम्नलिखित पद देखिए—

काले परे कोस चलि चलि थक गए पाय,
सुख के कसाले परे ताले परे नस के।
रोय रोय नैनन में हाले परे जाले परे,
मदन के पाले परे प्रान परे बस के ॥
हरीचंद अँग हू हवाले परे रोगन के,
रोगन के भाले परे तन बल खसके।
पगन में छाले परे बाँधिबे को नाले परे,
तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के ॥

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र बहुज्ञ और बहुश्रुत थे। भाषा-ज्ञान उनका बहुत विस्तृत था। हिंदी भाषा पर उनका पूरा अधिकार था। पंडित वे इतने बड़े थे कि बैठे बैठे कविता कर डालते थे। एक बार महाराज बनारस के यहाँ गए तो आपके सम्मुख एक समस्या रखी गई। आपने उस पर एक कवित्त उसी समय कह दिया। एक महाशय ने कहा यह कोई पुराना कवित्त याद था कह दिया है। इस पर उन्होंने कई कवित्त उसी समस्या पर वहीं बैठे बैठे बनाकर सुनाए। इसी प्रकार एक बार लावनी गानेवालों की एक मंडली में कुछ मित्रों के साथ जा बैठे और लावनी सुनने लगे। एक महाशय कह बैठे कि जरा अच्छी लावनी गाओ। इस पर गानेवाले ने कहा कि लावनी गाना कोई हँसी-खेल है? आप ही कोई सुनाइए। यह सुनकर वे महाशय तो बगलें झाँकने लगे। भारतेंदुजी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ने कहा—ठहरो, अभी गाते हैं। चट पेंसिल-कागज निकालकर उसी ढंग की एक लावनी बनाकर गाई। भारतेंदुजी का भाषा पर इतना अधिकार था कि जब चाहे तब रचना कर डालते थे, यहाँ तक कि वे स्वप्न में भी पद्य-रचना किया करते थे और उठकर उसे विस्मृत होने के डर से लिख लिया करते थे। उन्होंने एक लावनी स्वप्न में बनाई थी जो प्रेम-तरंग में संगृहीत है। जिस वस्तु पर कलम उठाते थे, उसे अपने ढंग की एक ही करके छोड़ते थे। एक अच्छे साहित्यिक होने के साथ साथ भारतेंदुजी अच्छे गायक भी थे। इसी प्रवृत्ति के कारण उन्होंने अनेक राग रागिनियों में गाने योग्य पद्य-रचना की है। राग-संग्रह के अतिरिक्त उनके प्राय: सभी ग्रंथों में ऐसे पद्य मिलेंगे जो गाए जा सकते हों। प्रसिद्ध छंदों के अतिरिक्त प्रांतीय छंदों में भी रचना करते थे। लावनी और कजली प्रांतीय हैं। इसकी रचना संस्कृत ऐसी कठिन अमरवाणी में की है। ये प्रतिभा-संपन्न आशुकवि थे। भारती के प्रिय पुत्र थे।

हिंदी भाषा के तो वे पंडित थे ही, कई और भाषाओं में भी अपना दखल रखते थे। उत्तरी भारत की प्राय: सभी भाषाओं का उन्हें ज्ञान था। ज्ञान-मात्र ही न था परंतु उन पर अधिकार भी था। हिंदी और उसकी विभाषाओं को छोड़कर वे संस्कृत, अँगरेजी, उर्दू, बँगला, गुजराती, मराठी और पंजाबी के भी अच्छे ज्ञाता थे। प्राय: इन सब भाषाओं में इन्होंने रचना की है और सफलतापूर्वक। संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। संस्कृत के गीतगोविंद का बड़ा ही सरस अनुवाद किया है। यह कार्य बिना अच्छे ज्ञान के नहीं हो सकता। अनुवाद के अतिरिक्त उन्होंने मौलिक रचनाएँ भी संस्कृत में की हैं। अष्टपदी और कजली का उदाहरण देखिए। निम्नलिखित अष्टपदी की भाषा कितनी सरस, सरल और मनोरम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। बहुत कुछ गीतगोविंद के ढंग की है। पढ़कर देखिए जयदेव के गीतगोविंद सा आनंद प्राप्त होगा। गीतगोविंद की सरसता एवं सरलता से किसी अंश में कम नहीं है।

रासे रमयति कृष्णं राधा।

हृदि निधाय गाढालिंगनकृत हृतविरहातपबाधा ॥
आश्लिष्यति चुम्बति परिरम्भति पुनः पुनः प्राणेशम्।
सात्त्विकभावोदयशिथिलायत मुक्ताऽकुंचितकेशम् ॥
भुजलतिकाबंधनमाबद्धं कामकल्पतरुरूपम्।
सीमन्तिनीकोटिशतमोहनसुंदरगोकुलभूपम् ॥
स्वालिंगनकण्टकित-तनु-स्पर्शोदितमदनविकारम्।
स्खलितवचनरचनश्रवणस्खलितीकृतरतरति-मारम् ॥
रतिविपरीतलालसालसरसलसितमोहिनीवेशम्।
निजसीत्कारमोहितप्रमदादत्तमाधवावेशम् ॥
हुंकृतिद्विगुणसुरतपणश्रमलोलितनासाभूषम्।
निजासेचनकसिंचित शशधर-मुख-स्वेदपीयूषम् ॥
वात्स्यायनविधिविहितषडङ्गविलक्षणरक्षणदक्षम्।
चतुराशीतिचतुरतरताधृतकामकलाकलपक्षम् ॥
स्वेद-सुगंधविमूर्च्छितालिकुल सहकिंकिणिकलरावम्।
नखदानाधरखण्डनजनितोद्भटसहचारीभावम् ॥
कठिनकुचामर्दनशिथिलीकृतकरकंकणभुजबन्धम्।
प्रतिमुद्रितसिंदूरकज्जलादिकमुखहृदयस्कन्धम् ॥
निशावसानजागरे जनितसखीजनमोहित तंद्रे।
गायति गोकुलचंद्राग्रज कवि हरिश्चंद्र कुलचंद्रे ॥

कजली वर्षा ऋतु में गाई जाती है। यह काशी और मिर्जापुर की खास चीज है। अन्यत्र यह इतनी सुंदर नहीं होती। भारतेंदुजी अपनी प्रतिभा से उसे संस्कृत में ले आए हैं। देखिए—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हरि हरि हरिरिह विहरति कुंजे मन्मथमोहनवनमाली ।
श्रीराधया समेतो शिखिशेखरशोभाशाली ॥
गोपीजन-विधुवदन-वनज-वनमोहनमत्ताली ।
गायति निजदासे 'हरिचंदे' गल-जालक माया-जाली ॥
हरि हरि धीरसमीरे विहरति राधा कालिंदी-तीरे ।
कूजति कलकलरवकेकावलि-कारंडव-कीरे ॥
वर्षति चपला चारु चमत्कृतसघनसुघननीरे ।
गायति निजपद-पद्मरेणु-रत कविवर 'हरिश्चंद्र' धीरे ॥

भारतेंदुजी का जैसा अधिकार हिंदी भाषा पर था प्रायः वैसा ही संस्कृत पर भी था। हिंदी में एक एक समस्या पर उन्होंने कई कई पद बनाए हैं और सब एक से एक बढ़कर। संस्कृत में भी समस्या-पूर्ति वैसे ही की है। बैठे बैठे श्लोक बना लेते थे। हिंदी की समस्या-पूर्ति की चर्चा आगे की जायगी; यहाँ संस्कृत की ही अपेक्षित है। संस्कृत की समस्या 'चंद्रावली चुंबति' एक बार पं० शिवकुमारजी को दी जो तात्कालिक रचना करने में बहुत प्रसिद्ध थे। एक उन्होंने पद्य बनाया और एक भारतेंदुजी ने भी। भारतेंदुजी ने संक्षेप में सरल भाषा में सुंदर भावों की व्यंजना की है। दोनों की तुलना कर भारतेंदुजी की प्रतिभा का अंदाज लगाइए।

चूतं वामलता निशा च शशिनं सिन्ध्वीश्वरं सिन्धुगाः
स्वर्णाद्रिं वसुधा गिरीशमधुना योगाहिताप्यम्बिका ।
आश्लिष्टेति विचिन्त्य पूर्वनिखिलं सन्त्यज्य कान्तान्तरं
प्रोन्मज्जन्मदनात्मिहस्ति वहनी चन्द्रावली चुम्बति ॥

(पंडितजी)

चंद्रालोकमये चतुष्पथचये गन्धावहे मारुते ।
चंचच्चालितचंचरीकनिचये चारुप्रमोदोदये ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कूजत्कोकिलकाकलीकलकले कालिन्दिकाकूलके ।
कुंजे केलिकलाऽकुलं प्रियतमं चन्द्रावली चुम्बति ॥

(भारतेंदुजी)

भारतेंदुजी फारसी के अच्छे ज्ञाता थे, इस कारण उनका अधिकार उर्दू पर भी अच्छा था। उन्होंने उर्दू में कई ग्रंथ लिखे थे तथा कुछ अनुवादित भी किए थे। काव्य-रचना भी उर्दू में की है। प्राय: उर्दू में शेर या गजलें ही कहने की प्रथा अधिक है। भारतेंदुजी ने गजलें तो लिखी ही हैं, लावनियाँ भी उर्दू में लिखी हैं। पहले एक गजल सुनकर फिर लावनी का मजा लीजिएगा—

"बुरा हो इश्क का यह हाल है अब तेरी फ़ुरक़त में।
कि चश्मे-ख़ूँचकाँ से लख़्ते-दिल पैहम निकलते हैं॥
फ़ुग़ाँ करती है बुलबुल याद में गर गुल के ए गुलचीं।
सदा इक आह की आती है जब ग़ुंचे चटकते हैं॥
कोई जाकर कहो यह आख़िरी पैग़ाम उस बुत से।
अरे आ जा अभी दम तन में बाक़ी है, सिसकते हैं॥"

"श्री राधा-माधव-जुगल-चरन-रस का अपने को मस्त बना।
पी प्रेम-पियाला भर भर कर कुछ इस मै का भी देख मज़ा॥
यह वह मै है जिसके पीने से और ध्यान छुट जाता है।
अपने में औ दिलवर में फिर कुछ भेद नहीं दिखलाता है॥
इसके सुरूर से मस्त हरेक अपने को नज़र बस आता है।
फिर और हवस रहती न ज़रा कुछ ऐसा मज़ा दिखाता है॥
टुक मान मेरा कहना दिल को इस मैख़ाने की तर्फ़ झुका।
पी प्रेम-पियाला भर भर कर कुछ इस मै का भी देख मज़ा॥
यह वह मै है जिसका कि नशा जब आँखों में छा जाता है।
मैख़ाना काबा बुतख़ाना सब एकी सा दिखलाता है॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुशियार समझता अपने को जग को अहमक बतलाता है।
वह काम ख़ुशी से करता जिसके नाम से जग शर्माता है॥
जिसका कि नाम है शर्म आप वह इस मै से जाती शरमा।
पी प्रेम-पियाला भर भर कर कुछ इस मै का भी देख मज़ा॥
हुशियार वही है आलम में इस मै से जो सरशार बने!
हो कार उसी का पूरा जो इस दुनिया से बे-कार बने॥
हो यार वही उसका जो इस जग में सबसे अग़यार बने।
पहिने कमाल का जामा वह जिसका कि गरेबाँ तार बने॥
गर लुत्फ़ उठाना हो इसका तो तू भी मेरा मान कहा।
पी प्रेम-पियाला भर भर कर कुछ इस मै का भी देख मज़ा॥
गो दुनिया में उस दाना को हर शख़्स बड़ा नादान कहे।
पर उसे मज़ा वह हासिल है जिससे वह हेच सबको समझे॥
कभी न उतरे उसका नशा जिसके सिर इसका भूत चढ़ै।
हँसते-हँसते इस दुनिया से झट उसका बेड़ा पार लगे॥
इतबार न हो तो देख न ले क्या 'हरीचंद' का हाल हुआ।
पी प्रेम-पियाला भर भर कर कुछ इस मै का भी देख मज़ा॥"

भारतेंदुजी ने बँगला भाषा से विद्यासुंदर नाटक का अनुवाद किया है परंतु बँगला में रचना बहुत कम की है। बँगला के छियालीस पद जो प्रेम-तरंग के अंत में दिए हैं वह मल्लिका नामक एक आश्रिता द्वारा लिखे गए जिसका उपनाम 'चंद्रिका' था। भारतेंदुजी ने कुछ पद्य बँगला में लिखे हैं। उनका अधिकार इस पर भी अन्य भाषाओं सा ही है। एक पद देखिए—

प्रानेर बिना की करी रे आमी कोथाय जाई।
आमी की सहिते पारी बिरह-जंत्रना भारी,
आहा मरी मरी विष खाई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बिरहे व्याकुल अति जल-हीन मीन गति,
हरि बिना आमि ना बचाई ॥

इसी प्रकार गुजराती और पंजाबी में भी कुछ पद लिखे हैं। इससे उनके विस्तृत ज्ञानक्षेत्र का पता लगता है और उनकी प्रतिभा का भी। वे अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे और अच्छे ज्ञाता थे। और जितनी भाषाएँ वे जानते प्रायः उन सबमें उन्होंने रचनाएँ की हैं। जैसा लालित्य, सरसता और सुंदरता उनकी हिंदी की रचना में मिलती है उससे किसी अंश में कम अन्य भाषाओं की रचना नहीं है। संस्कृत, उर्दू, बँगला के नमूने आप देख ही चुके हैं, गुजराती और पंजाबी के भी देख लीजिए।—

गुजराती—(१) थारे मुख पर सुंदर श्याम, लटू री लट लटके छे।
जेने जोईने म्हारो मन लाल, जाइ जाइ अटके छे॥
थारा सुंदर नैन विशाल, प्यारा अति रूडा छे।
जेने जोईने जग ना रूप, लागे भूँडा छे॥
थारा सुंदर गोल कपोल, गुलाब जेव्हा फूल्या छे।
जेने जोईने मन-भ्रमर, जुवतिओ न भूल्या छे॥
तारे कंठ वे बघनखा, मनोहर सोहे छे।
जेवा नव ससिना बे कटकां, लखताँ मोहे छे॥
तारा बोली अमृत सनी, करण-सुखदाई छे।
जेने सांम्हड़ताँ मन जाय, एह्वी मिठाई छे॥
तारो नख सिख रूप अनूप, सोभा प्यारी छे।
जेनी सोभा लखीने 'हरीचंद' बलिहारी छे॥

पंजाबी—(२) वेदरदी वे लड़िवे लगी तैंड़े नाल।
बे-परवाही वारी जी तू मेरा साहबा असी इत्थों बिरह-बिहाल॥
चाहनेवाले दी फिकर न तुझ नूँ गल्लों दा ज्वाब ना स्वाल।
'हरीचंद' ततबीर ना सुझदी आशक बैतुल्-माल॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तैंडा होरी खेल मैंडे जीउ नूँ भाँवदा ।
तू वारी कोई दी सरम न करदा बुरी वे गालियाँ गाँवदा ।।
पाय अबीर नैण विच साडे बंसी निलज बजाँवदा ।
'हरीचंद' मैंनूँ लगी लड़ तैंडी तूँ नहिं आस पुराँवदा ।।

भारतेंदुजी का साहित्यिक हिंदी पर अधिकार था ही, प्रांतीय बोलियों पर भी था। आपने अपनी कविताएँ अधिकतर ब्रजभाषा में रची हैं। परंतु अपनी बोली में भी रचना की है। प्रेमयोगिनी नाटिका में इसी प्रकार की रचना है। आपका मराठी पर भी अच्छा अधिकार था। इतनी सब अन्य प्रांतीय भाषाओं पर अधिकार होते हुए भी उनकी हिंदी विशुद्ध हिंदी बनी रही, यह उनके विशाल पांडित्य एवं प्रतिभा का ही सूचक है।

भारतेंदुजी ने बँगला से विद्यासुंदर नाटक का अनुवाद किया है, इसका उल्लेख हो चुका है। यहाँ अन्य भाषा के अनुवादों की भी चर्चा कर देनी चाहिए। भारतेंदुजी ने केवल बँगला से ही अनुवाद नहीं किया है, वरन् अँगरेजी और संस्कृत से भी। अँगरेजी के प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर के मरचेंट आफ वेनिस नामक नाटक का अनुवाद हिंदी में दुर्लभबंधु के नाम से भारतेंदुजी ने किया, परंतु उनके अकाल-काल-कवलित होने के कारण वह अधूरा रह गया। यों तो भारतेंदुजी ने बँगला और अँगरेजी से भी अनुवाद किए हैं, परंतु अधिकतर संस्कृत से ही नाटकों और कविता दोनों का अनुवाद किया है। नाटकों में मुद्राराचस, पाखंडविडंबन, धनंजय-विजय और कर्पूरमंजरी का बहुत ही सुंदर अनुवाद किया है। और कविता विभाग में प्रसिद्ध भक्तकवि श्री जयदेव कृत गीतगोविंद का अनुवाद भारतेंदुजी ने 'गीत-गोविंदानंद' नाम से किया है।

"अनुवाद करना जितना सुगम समझा जाता है वास्तव में वैसा नहीं है।" गद्य के लिये जब ऐसा कहा जा सकता है तब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद्य का पद्यानुवाद करना तो अवश्य ही और भी कठिन है। मौलिक रचना से भी यह अधिक कष्टसाध्य है। अन्य कवि की रचना के भावों को उसी प्रकार सरस शैली में व्यक्त कर देना यदि उससे श्रेष्ठतर कवि के नहीं तो कम से कम उसके समकक्ष कवि के लिये ही साध्य है। भारतेंदुजी कृत अनुवादों में मौलिक ग्रंथों ही सा आनंद प्राप्त होता है। इनके "अनुवाद में जो सरसता और सुंदरता है वह अन्य अनुवादों में नहीं। आपके अनुवाद में संगीत का मजा भी फीका नहीं होने पाता, वरन् ब्रजभाषा में होने के कारण मौलिक ग्रंथ से टक्कर लेता है।" गीतगोविंद की कविता के लालित्य और प्रसाद गुण से संस्कृत का कौन प्रेमी परिचित नहीं है। संगीत-प्रेमियों को भी इनकी रचना से जो आनंद मिलता है वह किसी दूसरे कवि की रचना से नहीं। भारतेंदुजी ने इसी का अनुवाद किया है। गीतगोविंद के मंगलाचरण का प्रथम श्लोक भारतेंदु के अनुवाद सहित दिया जाता है; तुलना करके देखिए। इसमें अनुवाद करने का लेशमात्र आभास नहीं मिलता है। भाव-साम्य के साथ साथ भाषा-माधुर्य भी है।

मेघैर्मेदुरमंबरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमैः
नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नंदनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुंजद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः॥

मेघन सों नभ छाइ रहे बनभूमि तमालन सों भई कारी।
साँझ भई डरिहै घर याहि दया करिकै पहुँचावहु प्यारी॥
यों सुनि नंद निदेस चले दोउ कुंजन में हरि भानु-दुलारी।
सोई कलिंदी के कूल इकंत की केलि हरै भवभीति हमारी॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक और उदाहरण देखिए। बड़े से बड़े पद का और अधिक से अधिक भावों का अनुवाद करने में वे कितने सफल हुए हैं—

संचरदधरसुधामधुरध्वनिमुखरितमोहनवंशम्।
चलितदृगंचलचंचलमौलिकपोलविलोलवतंसम् ॥
रासे हरिमिह विहितविलासं स्मरति मनो मम कृतपरिहासम् ॥ध्रु०॥
चंद्रकचारुमयूरशिखंडकमंडलवलयितकेशम्।
प्रचुरपुरंदरधनुरनुरंजितमेदुरमुदिरसुवेशम् ॥
मणिमयमकरमनोहरकुंडलमंडितगंडमुदारम्।
पीतवसनमनुगतमुनिमनुजसुरासुरवरपरिवारम् ॥
विशदकदंबतले मिलितं कलिकलुषभयं शमयंतम्।
मामपि किमपि तरंगदनंगदृशा मनसा रमयंतम्।
श्रीजयदेवभणितमतिसुंदरमोहनमधुरिपुरूपम्।
हरिचरणस्मरणं प्रति संप्रति पुण्यवतामनुरूपम् ॥

जिय ते सो छबि टरत न टारी।
रासविलास रमत लखि मो तन हँसे जौन गिरधारी ॥ ध्रु० ॥
अधर मधुर मधु पान छकी बंसी-धुनि देत छकाई।
ग्रीव-डुलनि चंचल कटाच्छ मिलि कुंडल-हिलनि सुहाई ॥
घुँघरारी अलकन पै प्यारी मोर-चंद्रिका राजै।
नवल सजल घन पैं मनु सुंदर इंद्रधनुष छबि छाजै ॥
गंडन पर मनिमंडित कुंडल झलकत सब मन मोहै।
सुर-नर-मुनिगन वंदित कटि-तट लपटि पीत पट सोहै ॥
बिसद कदंब तरे ठाढ़े जन-भव-भय-मेटनवारे।
कामभरी चितवन लखि मम उर काम-बढ़ावनहारे ॥
श्रीजयदेव-कथित यह हरि को रूप ध्यान मन भायो।
बसै सदा रसिकन के हिय 'हरिचंद' अनूप सुहायो ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाकवि विशाखदत्त-कृत मुद्राराक्षस नाटक का अनुवाद भारतेंदुजी ने किया है। इसमें मंगलाचरण वाला श्लोक बड़ा क्लिष्ट तथा अलंकार-युक्त है। उसको अनुवाद करने में भाव तथा अलंकार की रक्षा करते हुए कितना सरल अनुवाद भारतेंदुजी ने किया है। अनुवाद-प्रवीणता का यह प्रत्यक्ष उदाहरण है—

धन्या केयं स्थिता ते शिरसि शशिकला किन्नु नामैतदस्याः
नामैवास्यास्तदेतत्परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः
नारीं पृच्छामि नेन्दुं कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु-
र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः ॥

कौन है सीस पै ? चंद्रकला, कहा याको है नाम यही त्रिपुरारी।
हाँ यही नाम है भूल गईं किमि जानत हूँ तुम प्रानपियारी ॥
नारिहि पूछत चंद्रहिं नाहिं, कहै विजया जदि चंद्र लबारी।
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत ईश हरौ सब पीर तुम्हारी ॥

यथातथ्य अनुवाद तो किया ही है और अपने पात्रों के अनुकूल गाने योग्य पद-विन्यास में भी अनुवाद करने में सफलता प्राप्त की है। संस्कृत के इस पद का अनुवाद वैतालिक के गाने योग्य पद में किया है।

प्रत्यग्रोन्मेषजिह्मा क्षणमनभिमुखी रत्नदीपप्रभाणाम्
आत्मव्यापारगुर्वी जनितजललवा जृम्भितैः सांगभंगैः।
नागांकं मोक्तुमिच्छोः शयनमुरु फणाचक्रवालोपधानं
निद्राच्छेदाभिताम्रा चिरमवतु हरेर्द्दृष्टिराकेकरा वः ॥

हरौ हरि-नैन तुम्हारी बाधा।
सरद-अंत लखि सेस-अंक ते जगे जगत-सुभ-साधा।
कछु कछु खुले, मुँदे कछु सोभित आलस भरि अनियारे।
अरुन कमल से मद के माते थिर भे, जदपि ढरारे ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेस-सीस-मनि-चमक-चकौंधन तनिकहुँ नहिं सकुचाहीं।
नींद-भरे श्रम जगे चुभत जे नित कमला-उर माहीं।।
हरौ हरि-नैन तुम्हारी बाधा।।

पाखंड-विडंबन और धनंजय-विजय नाटक दोनों ही संस्कृत से अनूदित हैं। उनमें भी ऐसी ही प्रतिभा लक्षित होती है। कर्पूर-मंजरी शुद्ध प्राकृत से अनूदित है। इसका लेखक प्रकांड पंडित राजशेखर है। उसके पदों का अनुवाद करना हँसी-खेल नहीं है। परंतु भारतेंदुजी ने तीनों प्रकार का अनुवाद—पद्य का गद्य में, गद्य का पद्य में और पद्य का पद्य में—किया है। पहले तो प्राकृत से अनुवाद करना और हर एक अंश का—क्या गद्य और क्या पद्य का—अनुवाद सफलतापूर्वक करना साधारण प्रतिभा का काम नहीं है। यह भारतेंदुजी की असामान्य प्रतिभा का ही फल है। तीनों प्रकार के अनुवादों के उदाहरण देखिए—

(१) "जधा णिवेदिदं बंदीहिं पउत्ता जेव मलआणिला। तधाहि।
लंकातोरणमालिआतरलिणो कुंभुब्भवस्सासमे
मंदंदोलिअचंदणद्दुमवणा कप्पूरसंपक्किणो।
कंकेल्लीकुलकंपिणो फणिलआणिप्फट्टणट्टावआ
चंडं चुंबिअतम्बवण्णिसलिला वाअंति चेत्ताणिला। अवि अ।
माणं मुंचह देह वल्लहजणे दिट्ठिं तरंगुत्तरं
तारुण्णं दिअहाइ पंच दहवा पीणत्थणुत्थम्भणं।
इत्थं कोइलमंजुसिंजिअमिसा देवस्स पंचेसुणो
दिस्सा चेत्तमहूसवेण सहसा आणा व्व साव्वंकसा।"

"महाराज! बंदीजन ने जैसा कहा है हवा वैसी ही बह रही है। देखिए यह पवन लंका के कँगूरों की पंगति में यद्यपि कैसा चंचल है पर अगस्त मुनि के आश्रम में उनके भय से धीरा चलता है, इसके झोंके से चंदन, कपूर, कंकोल और केले के पत्ते कैसे झोंका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खा रहे हैं; जंगलों में जहाँ-तहाँ साँप नाचते हैं और ताम्रपर्णी नदी की लहरों को यह स्पर्श करता है तो उन्हें दूना कर देता है। देखिए, कोयल मानो कामदेव की आज्ञा से इस चैत के त्योहार में पुकार रही है कि तरुनियो झूठा मान छोड़ो, अपने प्यारे को प्यार की चितवन से देखो और दौड़ दौड़ कर प्रीतम को गले लगाओ, यह चार दिन की जवानी तो बहती नदी है, फिर यह दिन कहाँ और यह समय कहाँ ?"

(२) "जअ जअ पुव्वदिसंगणामुअंग चंपाचंपअकणऊर राढाणिज्जियराढा चंगत्तण विक्कमक्कतकामरूप हरिकेलीकेलिआर अव मणिदजच्चसुवण्णवण सव्वंगसुंदरत्तणरमणिज्ज सुहाअ दे भोदु सुरहिसमारंभो।"

"जै पूरब दिसि कामिनी कंत।
चंपावति नगरी सुख समंत॥
खेलत जीत्यौ जिन राढ़ देस।
मोहन अनंग लखि जासु भेस॥
क्रीड़ामृग जाको सारदूल।
तन बरन कांति मनु हेम फूल॥
सब अंग मनोहर महाराज।
यह सुखद होइ रितुराज साज॥"

(३) "सह दिअ हणिसाहिं दीहरा सासदंडा
सह मणिवलएहिं वाहधारा गलंति।
तुह सुहअ विओए तीअउब्बिबिरीए
सह अ तणुलआए दुब्बला जीविआसा॥"

"विरह अनल दहकत नित छाती।
दुखद उसास बढ़त दिन राती॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गिरत आँसु सँग सखि करि चूरी।
तन मन जिश्रन आस भई भूरी॥

पूर्वोक्त उद्धरणों के पढ़ने से उनमें अनुवाद की गंध नहीं आती प्रत्युत मूल सा आनंद आता है। इस प्रकार सहज ही में मूल सा अनुवाद कर डालने की प्रतिभा भारतेंदुजी में जन्मसिद्ध थी। अनुवाद करने में वे इतने कुशल थे कि उसे मूल से इस प्रकार मिला देते थे कि पाठकों को भ्रम हो जाता था कि कौन सा मूल है और कौन अनुवाद। अनुवाद की कसौटी भी यही है। इस पर भारतेंदुजी खरे उतरे।

समस्या-पूर्ति में प्रायः देखा जाता है कि कवित्त का अंतिम चरण अन्य चरणों की अपेक्षा अधिक सुंदर होता है। इसका कारण यही है कि चौथा चरण प्रायः भावानुगुण भाषा में ढला रहता है और शेष चरण छंद के अनुरोध से भरे जाते हैं। इससे उसकी रचना उखड़ी हुई और शिथिल होती है। लालित्य और माधुर्य की कौन कहे, उसमें भाव तक अच्छी तरह प्रकट नहीं हो पाते हैं। अथवा भावाभिव्यंजक शब्दों के अतिरिक्त भरती के शब्द भरे रहते हैं जिनके चक्कर में पड़कर भाव तक गायब हो जाते है। भारतेंदुजी आशुकवि थे। उन्हें वाणी का वरदान प्राप्त था। वे पद्य-रचना में गद्य-रचना से भी पटु थे। बैठे बैठे क्या, सोते हुए भी स्वप्न में रचना किया करते थे। बातचीत करते जाते थे रचना भी होती रहती थी। चार चार मिनट के भीतर समस्या-पूर्ति कर डालते थे। ऐसे आशुकवि की समस्या-पूर्ति के कवित्तों में लालित्य, सरसता तथा धारा-प्रवाह की कमी कैसे हो सकती है।

संस्कृत के छंदों में प्रायः अंत्यानुप्रास नहीं होता। हिंदी के सब छंदों में अंत्यानुप्रास होता है। समस्या-पूर्ति करनेवालों के सम्मुख यह एक और कठिनाई पड़ती है। अधिकतर अंत्यानुप्रास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही सब काम बिगाड़ देता है। परंतु भारतेंदुजी के लिये यह भी कुछ न कर सका। 'कान्ह कान्ह गोहरावति है' समस्या पर भारतेंदुजी ने पंद्रह सवैए लिखे हैं। सब एक से एक बढ़कर हैं। दो उदाहरण देखिए—

(१) जो तुम जोगिन बनी पी के हित अंग भभूत रमावति है।
सेली डारि गलै नैनन में छकि कै रंग जमावति है॥
त्यौं 'हरिचंद' जोगिया लैके काँधे बीन बजावति है।
तो फिर अलख अलख बोलौ क्यौं कान्ह कान्ह गोहरावति है॥

(२) बिना बात ही अटा चढ़ी क्यौं आँचर खोले धावति है।
सेज साजि अनुराग उमगि क्यौं रचि रचि माल बनावति है॥
पावस रितु नहिं जानति है 'हरिचंद' वृथा भ्रम पावति है।
पिया नहीं ये घन उनये क्यौं कान्ह कान्ह गोहरावति है॥

'क्यों प्यारी फिरत दिवानी सी' समस्या के ही अनुरूप भावानुकूल शब्दों में इसी भाव—दिवानेपन—का कैसा अच्छा चित्रण किया है। समस्यापूर्ति भी की और भरती भी कहीं लेश-मात्र नहीं है—

बंसी झुकि झुकि कहाँ बजावत झूठहिं अंचल तानी सी।
आपुहि आप हँसत अरु रीझत यह गति अलख लखानी सी॥
मेरे गल भुज दै दै लटकत मुख चूमत मनमानी सी।
नाम रटत अपनो राधे क्यौं प्यारी फिरत दिवानी सी॥

सवैयों में समस्यापूर्ति करने में भारतेंदुजी कितने पटु थे यह आप देख चुके। अब एक कवित्त भी देखिए। 'छबीलो छैल छलके उछाह में' पर कैसी सुंदर रचना की है। भारतेंदुजी की अन्य समस्यापूर्ति की तरह इसमें भी कहीं शिथिलता नहीं आई—

रंग-भौन पीतम उमंग भरि बैठ्यो आज,
साजे रति-साज पूर्यो मदन-उमाह में।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'हरीचंद' रीझत रिझावत हँसावत हँसत,
रस बाढ़यौ अति प्रेम के प्रवाह में ॥
बीरी देन मिस छुए आँगुरी अधर पुनि,
चूमै चुपचाप ताहि पान खान चाह में ।
लाजहिं छुड़ावत छकावत छकत छवि,
छावत छबीलो छैल छलके उछाह में ॥

संसार के प्रत्येक प्राणी में क्या प्रत्येक वस्तु में गुण और दोष दोनों होते हैं। भारतेंदुजी इस विश्व-नियम के अपवाद न थे। वे इस संसार के मनुष्यों में से मनुष्य थे। उनमें भी गुण और दोष दोनों विद्यमान थे। यहाँ हमें उनके चरित्रगत गुण और दोषों का विवेचन अपेक्षित नहीं है। उनकी शैली की विशेषताओं और गुणों का विस्तृत दिग्दर्शन हो चुका है। अब यहाँ उनकी कुछ त्रुटियों का भी उल्लेख किया जाता है।

यद्यपि कवि निरंकुश होते हैं, परंतु भारतेंदुजी में निरंकुशता का वह रूप नहीं मिलता है जो कई अन्य कवियों के दोष छिपाने के लिये उपयोग किया जाता है। उनकी निरंकुशता का कोई रूप था तो वह केवल यही कि वे भाषा-प्रयोग अपने ढंग से करते थे। बोलचाल के शब्दों के व्यावहारिक रूपों का वे अधिक ध्यान रखते थे। आधुनिक पाठकों को चाहे वे भद्दे लगें, परंतु यही उनकी निरंकुशता थी। उनके प्रयुक्त शब्द इतने चलते हुए होते थे कि वे कान को खटकते न थे। वे न तो भद्दे ही ज्ञात होते थे और न उनके प्रयोग में कोई अड़चन ही उपस्थित होती थी। भलेमानस, हिया, गुनी, आपुस, लच्छन, जोतसी, आँचल, जोबन, अगनित, अचरज इत्यादि शब्द कितने मधुर हैं। वे कानों को किंचित्‌मात्र भी अखरनेवाले नहीं हैं। इसके अतिरिक्त इनका प्रयोग रचना में अधिक होने के कारण और भी नहीं खटकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इनमें सदल मिश्र सा पंडिताऊपन भी थोड़ा-बहुत मिलता है। भई (हुई), करके (कर), कहाते हैं (कहलाते हैं), ढकौ (ढको), सो (वह), होई (हो हो) आदि के प्रयोगों में पंडिताऊपन की झलक मिलती है। परंतु इसके लिये वे दोषी नहीं ठहराए जा सकते। क्योंकि अब तक न तो कोई आदर्श हो उपस्थित हुआ था और न भाषा का कोई व्यवस्थित रूप ही था। ऐसी अवस्था में इन विषयों का सम्यक् पर्यालोचन हो ही कैसे सकता था? और दूसरी बात यह है कि इन प्रयोगों का उनकी रचना के विस्तार में कुछ पता भी नहीं चलता है। अतः शैली में कोई दोष नहीं आता। इसके अतिरिक्त उनसे कुछ व्याकरण संबंधो भूलें भी हुई हैं। जैसे 'विद्यानुराग' के लिये 'विद्यानुरागिता', 'श्यामता' के लिये 'श्यामताई' तथा 'श्यामताई' का पुंलिग में प्रयोग, 'अधीरमना' के लिये 'अधीरजमना', 'कृपा की है' के स्थान पर 'कृपा किया है', 'नाना देशों में' के स्थान पर 'नाना देश में' आदि रूप व्यवहृत दिखाई पड़ते हैं। इस त्रुटि के लिये भी उन्हें विशेष दोष नहीं दिया जा सकता। क्योंकि उस समय व्याकरण संबंधो नियमों का भी विचार नहीं हुआ था। व्याकरण का विचार भाषा-निर्माण के बाद होता है। पहले जो भाषा जन साधारण की बोलचाल में व्यवहृत होती है वहो भाषा समय पाकर साहित्यारूढ़ हो जाती है। जब तक भाषा साहित्यारूढ़ नहीं होती तब तक उसका व्याकरण भी नहीं बनता। अब भाषा साहित्यारूढ़ हो गई। अतः अब व्याकरण संबंधी विषयों के विचार का समय उपस्थित हुआ। भारतेंदुजी का समय इसके उपयुक्त भी न था, क्योंकि उस समय तो भाषा एक विशेष ढाँचे में ढल रही थी। अतएव आजकल के विचारों के अनुसार उनकी व्याकरण संबंधी त्रुटियाँ उस समय के लिये त्रुटियाँ न थीं परंतु सिद्ध प्रयोग थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिभाशाली व्यक्तियों के दोष भी गुण हो जाते हैं। भारतेंदुजी के ये शैलीगत दोष दोष न थे प्रत्युत इन्हें उनकी शैली की विशेषताएँ ही समझनी चाहिए। उत्तम शैली के जितने विशेषण हो सकते हैं, प्राय: वे सब भारतेंदु जी की शैली में पाए जाते हैं। भारतेंदुजी की शैली इन दोषों और त्रुटियों से—यदि इन्हें दोष और त्रुटि माना जाय तो—युक्त होने पर भी सरस, सरल एवं सुंदर होती थी। भावानुकूल शब्दों का प्रयोग तथा भावानुकूल शैली में परिवर्तन उपस्थित करना उनका स्वाभाविक गुण था। उनकी शैली की एक बड़ी भारी विशेषता यह थी कि वह किसी से मेल न खाती थी। जिस प्रकार सब रत्नों में से हीरा अपनी चमक के कारण अपने को प्रकट कर देता है उसी प्रकार भारतेंदुजी की शैली छिपी नहीं रहती थी। उनकी शैली में उनका व्यक्तित्व छिपा रहता था। एक लेखक ने कहा ही है कि शैली ही लेखक की वैयक्तिकता है। इनकी शैली स्वाभाविक होती थी। कृत्रिमता का कहीं उसमें लेश भी नहीं मिलता है। क्या गद्य क्या पद्य, क्या मौलिक रचना क्या अनुवाद, यहाँ तक कि समस्या-पूर्ति में भी उनकी शैली की स्वाभाविकता तथा उनकी वैयक्तिकता बनी रहती थी। ऐसी सर्वांग-सुंदर शैली दूसरी नहीं मिलती और ऐसा प्रतिभासंपन्न और सफल लेखक शायद ही खोजे दूसरा मिले।

(४)

भारतेंदुजी की भाषा का प्रभाव

भाषा साहित्यारूढ़ होने के पूर्व जनसाधारण की बोलचाल की भाषा रहती है। वही भाषा संस्कृत—परिष्कृत—होकर साहित्य में प्रयुक्त होने लगती है। जब यह भाषा अधिक संस्कृत हो जाती है और जनसाधारण की समझ के बाहर हो जाती है तब अग्रगामी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो जाती है और उस समय की बोलचाल की भाषा उसका स्थान ग्रहण कर लेती है और वही साहित्यारूढ़ हो जाती है। जिस हिंदी में भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने साहित्य-रचना की वह बोलचाल की थी, जनसाधारण की समझ में आनेवाली थी। वह संस्कृत न थी, परिष्कृत अवश्य थी। परंतु उन्हीं के समय में उसके संस्कृत होने का आरंभ हो गया था। पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' जी की भाषा एक प्रकार से संस्कृत हिंदी ही थी। उसमें संस्कृत की पदावली एवं संस्कृत के शब्दों का आधिक्य रहता था। उसको समझनेवाले कुछ पढ़े लिखे ही लोग होते थे, वह जनसाधारण की समझ के बाहर की वस्तु हो चली थी। आज-कल इसी तरह की भाषा का अधिक प्रचलन है। जिस लेखक की भाषा में संस्कृत के शब्दों का आधिक्य नहीं होता, उसकी भाषा शुद्ध क्या केवल हिंदी भी नहीं समझी जाती। लोग शुद्ध हिंदी उसी को समझते हैं जिसमें संस्कृत के ही शब्दों का प्रयोग हो। यदि दुर्भाग्यवश कहीं उर्दू का शब्द आ गया तो साहित्य के धुरंधर उस पर अँगुली उठाने लगते हैं। यदि उर्दू के शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ तो वह हिंदी न कहलाकर हिंदुस्तानी कहलाने लगती है। परंतु इस हिंदुस्तानी हिंदी को हिंदी न कहकर उर्दू कहना अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि उर्दू भाषा में क्रिया और सर्वनाम आदि तो हिंदी के ही रहते हैं, केवल वाक्य-विन्यास उनके ढंग का होता है। इसके समर्थक इसको जन-साधारण की समझ में आनेवाली अथवा उनके बोलचाल की भाषा समझते हैं। परंतु जन-साधारण की भाषा इससे बहुत भिन्न होती है। उसमें उर्दू के शब्दों का अधिक प्रयोग नहीं होता, वरन् हिंदी के ही विकृत—अपभ्रंश—शब्दों का प्रयोग अधिक रहता है। अतः इसके वर्तमान रूप में साहित्यारूढ़ होने की कम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संभावना है। जब उसका और भी सुधार होगा, तब वह साहित्यारूढ़ होगी।

आजकल जिस हिंदी भाषा का साहित्य में प्रयोग होता है वह संस्कृत-शब्द-प्रधान होती है, यह कह चुके हैं। परंतु इसके साथ ही साथ आजकल कुछ पढ़े लिखे और अपने को विद्वान् समझनेवाले लोग हिंदी भाषा में अँगरेजी एवं बँगला के शब्दों को भी घुसेड़ देते हैं। वे उन शब्दों का प्रयोग करके अपनी विद्वत्ता एवं बहुज्ञता का परिचय दिया करते हैं। परंतु फल इसके विपरीत ही होता है। साधारण पाठक उसको समझ नहीं पाते और लेखक को अनभिज्ञ समझ बैठते हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग होने का एक कारण तो यह है कि लेखक अपने विषय और अपनी हिंदी भाषा का पूर्ण पंडित नहीं होता। हिंदी उसकी मातृभाषा होते हुए भी उसको एक और भाषा अँगरेजी का अध्ययन करना पड़ता है। अधिकतर इसी में विचार-विनिमय करने के कारण उस पर और उसकी भाषा पर उसका प्रभाव पड़ता है। इसको वह किसी तरह दूर नहीं कर पाता। अँगरेजी में ही सोचने विचारने के कारण उसके हिंदी में लिखे हुए लेखों पर भी अँगरेजी भाषा और साहित्य का प्रभाव प्रत्यक्ष रहता है। आजकल इसका प्रभाव इतना बढ़ गया है कि हिंदी की स्वतंत्र सत्ता, जिसकी स्थापना भारतेंदुजी ने की थी, प्रायः लुप्त हो गई। हिंदी-शब्दों के साथ अँगरेजी के शब्द मेल नहीं खा सकते। केवल शब्दों का प्रयोग ही नहीं होता परंतु वाक्य-विन्यास तक पर अँगरेजी का प्रभाव लक्षित होता है। आजकल की पत्र-पत्रिकाओं में लेखों की वाक्यावली को वही समझ सकता है जिसको अँगरेजी के वाक्य-विन्यास का परिचय हो। बहुत से लेखक तो अँगरेजी से अनुवाद करके ज्यों का त्यों रख देते हैं। उसको हिंदी बनाने की चेष्टा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं करते। वे प्रायः डरते हैं कि ऐसा करने से वाक्य का चमत्कार और लालित्य नष्ट हो जायगा। परंतु वे यह नहीं समझते कि हिंदी भाषा के वाक्य-विन्यास का ढंग अँगरेजी से एकदम भिन्न है। अँगरेजी का हिंदी में शब्दानुवाद करने से वह हिंदी नहीं कहलाएगी। और तो और, शब्दानुवाद करने में भी वे लोग भाव की ओर लेशमात्र भी ध्यान नहीं देते। जैसे यह अँगरेजी का एक वाक्य है कि Literature should be literary. इस वाक्य का अनुवाद यह हो सकता है कि 'साहित्य को साहित्यिक होना चाहिए।' इस वाक्य का अर्थ वही समझ सकता है जो अँगरेजी के शब्द Literature या Literary का व्यापक अर्थ समझता हो। इसी प्रकार बहुत से लेखक वाक्यों का बिना समझे बूझे अनुवाद कर बैठते हैं जिसको न तो वे ही समझते हैं न उनका पाठक ही। ऐसे ही अँगरेजी शब्दों का भी हिंदी में अनुवाद करने में बहुत अनर्थ होता है। अँगरेजी के शब्द Reaction का हिंदी में अर्थ होता है 'प्रतिवर्तन'। परंतु Reactionary spirit का अर्थ किया जाता है 'प्रतिक्रियात्मक भाव'। इसमें तो अर्थ एकदम उलट गया। अर्थ का अनर्थ हो गया। ऐसे ही Crocodile tears का अनुवाद 'मकराश्रु' किया जाता है। Crocodile tears का भाव मकराश्रु में नहीं आता है। इस प्रकार शब्द या वाक्य के भाव को बिना अच्छी तरह समझे हुए उसका अनुवाद करने का परिणाम यही होता है कि अनूदित वाक्य या शब्द हिंदी में एक नई चीज हो जाती है और पढ़नेवालों के लिये एक पहेली हो जाती है।

अँगरेजी से अनूदित शब्दों की बाढ़ के साथ साथ हिंदी में बँगला के शब्दों का भी काफी प्रयोग होने लगा है। काँदना, सिहरना, वसंत-राग, सुविधा, अकाट्य आदि शब्द ऐसे ही हैं। बंगभाषा अपने देश की भाषा है और हिंदी से मिलती-जुलती है। इससे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रसंग या स्थल के अनुरूप बहुत ही सुंदर और उपयुक्त संस्कृत के शब्द मिलते हैं। भारतेंदुजी के समय में ही बँगला के नाटकों एवं उपन्यासों का हिंदी-अनुवाद आरंभ हो गया था। परंतु उस काल में यह क्रिया बहुत ही क्षुण्ण थी। अब तो अनुवादित उपन्यासों की बाढ़ सी आ गई है। जो थोड़ी बहुत बँगला और संस्कृत का ज्ञान रखता है वही अनुवाद करने बैठ जाता है। अनुवाद अपने ढंग का होना चाहिए। अपनी भाषा की व्यंजना शक्ति का पूरा ध्यान रखकर मूल ग्रंथ का अनुवाद करना चाहिए। पर आजकल ऐसा नहीं होता। अनुवादकों की इस त्रुटि से हिंदी अब हिंदी न रही, वह अन्य भाषाओं के मेल से एक प्रकार की खिचड़ी बन गई जो बहुत ध्यानपूर्वक सुधार कर बनाई गई हो। आजकल की यह संस्कृत हिंदी कुछ दिनों में अमरवाणी का पद प्राप्त करेगी और उसका स्थान जन-साधारण की बोलचाल की अपभ्रंश भाषा ग्रहण कर लेगी और उसी में साहित्य-रचना होने लगेगी। यदि हिंदी को इससे बचाना हो तो उसे पूर्वकाल—भारतेंदु काल—की हिंदी के गुणों से सुशोभित करना चाहिए। भारतेंदु-काल में हिंदी भाषा का जो स्वरूप था और उसमें जो गुण वर्तमान थे उनका उल्लेख हो चुका है। उन्हीं गुणों को ध्यान में रखकर अब फिर भाषा-संस्कार करना चाहिए; तभी वह जीवित रह सकेगी।*

———

* विशेष—इस निबंध के प्रस्तुत करने में अपने अध्यापक पंडित केशव-प्रसाद मिश्र से अमूल्य सहायता प्राप्त हुई है, जिसके लिये मैं उनका अत्यंत कृतज्ञ हूँ।—लेखक।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१२) विविध विषय

(१) पुरातत्त्व

अप्रैल १९३६ के जरनल आफ् इंडियन हिस्टरी में डाक्टर सीतानाथ प्रधान ने "वाजसनेय याज्ञवल्क्य और उनका काल" इस विषय का लेख समाप्त किया है। पूर्व के लेख अगस्त और दिसंबर १९३३ में आए थे। वे नाना प्रकार के कितने ही प्रमाणों से सिद्ध करते हैं कि जनक वैदेह और वाजसनेय याज्ञवल्क्य जनमेजय पारिक्षित, अर्जुनपुत्र अभिमन्यु के नाती के समकालीन थे। याज्ञवल्क्य का पूरा नाम ब्रह्मराति वाजसनेय याज्ञवल्क्य था। डाक्टर एच० सी० राय चौधरी का मत है कि ये दोनों पारिक्षित जनमेजय से कोई १८० वर्ष पीछे हुए। इस मत का डाक्टर सीतानाथ कई रीतियों से खंडन करते हैं।

× × ×

पंढरपुर महाराष्ट्र देश में एक तीर्थस्थान है जहाँ विट्ठल या बिठोवा का मंदिर है। दिसंबर १९३५ की इंडियन हिस्टारिकल कारटरली में मिस्टर बी० ए० सालेटोरे स० ई० ५१६ के लेख के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि इस ग्राम के मूल नाम पंढराद्रि और पंडरपल्लि थे और यह उस समय ६ठीं शताब्दी के आरंभ में वर्तमान था। इस मत के समर्थन में वे दूसरी शहादत भी देते हैं। नामदेव पंढरपुर के प्रधानभक्त का समय तेरहवीं शताब्दी का है।

× × ×

दशावतार--पुराणों को पंचलक्षण कहा है। आधुनिक सब पुराणों में ये पंच लक्षण पूरे पूरे पाए नहीं जाते। उनमें स्मृति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अंश भी रहता है। उन अंशों के अध्ययन से यह ज्ञात हो जाता है कि हिंदू समाज में कौन कौन परिवर्तन कब कब हुआ। ऐसा जान पड़ता है कि ब्रह्मा की पूजा स० ई० २०० से ६०० वर्ष तक होती रही और पंच देवता की पूजा सातवीं शताब्दी के आरंभ में प्रचलित हुई जिससे ब्रह्मा की पूजा लुप्त हो चली। मार्च १९३५ के इंडियन हिस्टारिकल कारटरली में इस दृष्टि से एक लेख लिखा गया है जिसमें इसका भी विचार किया गया है कि प्रचलित दशावतारों का मत कब से पूर्ण रूप से जारी हुआ। प्रायः हिंदू लोगों को यह नहीं मालूम कि आजकल के माने जानेवाले दश अवतार पूर्व में सब नहीं माने जाते थे। तब उस गणना में बहुत से दूसरे नाम भी शामिल थे। महाभारत में आधुनिक दश की गणना नहीं पाई जाती। कुंभ-कोणम् संस्करणवाले महाभारत में यह श्लोक मिलता है—

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्कीति ते दश॥

पर यह एशियाटिक सोसायटी बंगाल, बंबई और बंगवासी के महाभारतों में नहीं पाया जाता। इसी प्रकार कुंभकोणम् के महाभारत के मोक्षधर्म-खंड में पाए जानेवाले बुद्ध के विषय के भी दो श्लोक (ततः कलियुगस्यादौ......शुद्धोदनसुतो बुद्धो मोह-यिष्यामि मानवान्) प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। शांतिपर्व के नाराय-णीय खंड में ये अवतार बताए गए हैं—हंस, कच्छ, मत्स्य, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, दाशरथि राम, सात्वत और कल्कि।

ऐसा जान पड़ता है कि २०० स० ई० के पहले बुद्ध को अव-ताररूप से नहीं माना गया था। मार्कंडेय पुराण (४-३६) में नारायण चार मूर्ति से रहते हैं—(१) वासुदेव जो अनिर्देश्य और सनातन हैं (२) शेष (३) प्रद्युम्न सत्वोद्रिक्त जो जगत् का पालन और धर्म की संस्थापना करते हैं। चौथा रूप शेषशायी होकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जगत् की रचना करता है। इस पुराण में यह भी लिखा है कि नारायण के इस तृतीय रूप ने वराह, नृसिंह, वामन और दूसरे असंख्य अवतार धारण किए। हरिवंश (१—४१) में ये अवतार बताए हैं—वराह, नृसिंह, वामन, दत्तात्रेय, जामदग्न्य, राम, कृष्ण, वेदव्यास और कल्कि।

कूर्म पुराण (१—५०) में प्रत्येक मन्वन्तर का एक एक अवतार बिलकुल दूसरे नाम का बताया गया है जैसे आकुटिपुत्र, तुशितापुत्र, सत्यापुत्रसत्य, हर्यापुत्रहरि, संकल्पापुत्र, वैकुंठापुत्र, वामन अदितिपुत्र। नारायण गुणों से अन्वित होकर चार रूपों में प्रकट हुए हैं जैसे (१) वासुदेव गुणातीत, (२) संहारकर्ता शिव, (३) सत्त्वोद्रिक्त प्रद्युम्न, (४) अनिरुद्ध या ब्रह्मा जगत् के सिरजनहार। इस पुराण ने व्यास को भी अवतार कहा है। इस पुराण का यह अवतार-वर्णन मार्कंडेय पुराण के आधार पर किया गया है। ब्रह्म-पुराण अ० १८० ने मार्कंडेय पुराण (४—३६) का ही वर्णन लिया है। उसमें विष्णु के चार रूप बताए हैं और तीसरे रूप ने वराह, नृसिंह, वामन, जामदग्न्य, दत्तात्रेय, राम दाशरथि असंख्य दूसरे और माथुर (कृष्ण)। इसी पुराण के २१३ अध्याय में ये ही अवतार और कल्कि विष्णुयशस लिखे हैं। अहिर्बुध्न्यसंहिता (५—५०) में ३९ प्रधान विभव बताए हैं जिनमें १५वाँ कच्छ का, १६वाँ वराह का, १७वाँ नृसिंह का, २८वाँ मत्स्य का, २९वाँ वामन का, ३४वाँ कृष्ण का और ३८वाँ कल्कि का बताया है। इसमें बुद्ध का नाम नहीं है।

श्रीमद्भागवत पुराण १-३, २-७, ६-८ में अवतारों की जुदी जुदी तीन सूचियाँ हैं जिनमें संख्या और नामों का भेद है। इन सब सूचियों में मत्स्य, बुद्ध, कल्कि शामिल हैं।

मत्स्यपुराण अध्याय २५९-२६० में राम, वराह, नृसिंह, वामन, मत्स्य और कच्छ का वर्णन मूर्तियों के संबंध में है। पद्म-तंत्र का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समय स० ई० ८०० से पूर्व का है। इसमें दस अवतारों का वर्णन है और लिखा है कि इन दस अवतारों में से मत्स्य, कच्छ, वराह वासुदेव से उत्पन्न हुए; नृसिंह, वामन, श्रीराम और परशुराम संकर्षण से; बलराम प्रद्युम्न से और कृष्ण तथा कल्कि अनिरुद्ध से उत्पन्न हुए।

विष्वक्सेन-संहिता में बुद्ध और परशुराम की गणना छोटे अवतारों में की गई है। गरुड़ पुराण (अ० २०२ बंगवासी संस्करण) में विष्णु की मूर्तियों में मत्स्य, त्रिविक्रम, वामन, नृसिंह, राम, वराह, नारायण, कपिल, दत्त, हयग्रीव, मकरध्वज, नारद, कूर्म, धन्वन्तरि, शेष, यज्ञ, व्यास, बुद्ध और कल्कि के नाम बताए गए हैं।

इससे जान पड़ेगा कि अवतारों की संख्या और नामों में सन् ई० ८०० के पूर्व बहुत भेद मिलता है।

अग्निपुराण अ० २—१६ में दश अवतारों का वर्णन है और उनके ये नाम बताए गए हैं—मत्स्य, कच्छ, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि। इस पुराण के ४९ वें अध्याय में कृष्ण के बदले बलराम का वर्णन है। पद्मपुराण के उत्तरखंड के २५८ और पीछे के अध्यायों में दश में से प्रथम आठ अवतारों का वर्णन है। पर ये अध्याय पीछे के जान पड़ते हैं।

× × × ×

पंडित राहुल सांकृत्यायन तिब्बत और नेपाल की यात्रा से हाल में ही लौटे हैं। आप वहाँ पर संस्कृत-ग्रंथों की शोध में गए थे। तिब्बत में सात मास और नेपाल में दो मास रहकर बहुत से ग्रंथों सहित वापिस लौटे हैं। चार-पाँच पुस्तकों की आपने नकलें कर ली हैं जिनमें १४ लाख से अधिक अक्षर हैं और ५० लाख अक्षरों के आपने फोटोग्राफ ले लिए हैं। यह सब सामग्री आपने पटने की बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसायटी को सौंप दी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन ग्रंथों में नागार्जुन, असंग, वसुबंधु, भव्य, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर-गुप्त, मनोरथनंदी, कर्णकगोभिज्ञानश्री, रत्नाकर, शांति, दुर्वेक मिश्र आदि महापुरुषों के लेख भी हैं। इन ग्रंथों का महत्त्व इस बात से समझ पड़ेगा कि लेनिनग्रेड के प्रसिद्ध भारत-पुरातत्त्वज्ञ डाक्टर शेरबटस्की (Tscherbatski) और उनके सहकारी डाक्टर वोस्त्रीकोवा (Vostri Kova) ने इस सब सामग्री के देखने के लिये भारत में आने की इच्छा प्रकट की है।

इन महाशय को वहाँ पर कुछ चित्र और मूर्तियाँ भी दिखीं जिनका समय ५०० ई० से १२०० ई० का है। वहाँ बुद्ध गया मंदिर की पत्थर की प्रतिमूर्तियाँ भी हैं। राहुल जी ने इन सबके फोटोग्राफ ले लिए हैं।

इन ग्रंथों को छापकर प्रकाशित करने में कोई दस वर्ष का समय लगेगा।

× × ×

भारत न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी का वार्षिक अधिवेशन इस वर्ष उदयपुर में, पटना के डाक्टर के० पी० जायसवाल के अधिपतित्व में, हुआ। आपने अपने भाषण में जिन प्रधान विषयों का वर्णन किया उनको नीचे लिखते हैं—

१—रोहतक के कोहराकोट में स० ई० से १०० वर्ष पूर्व की, यौधेय राज्यकाल की, टकसाल मिली है जहाँ से लखनऊ के डाक्टर वी० साहनी ने कोई १००० सिक्का ढालने के साँचे खोद निकाले हैं। इन साँचों का वर्णन इस पत्रिका में अन्यत्र किया गया है। इन मुद्राओं पर "यौधेयान बहुधान्यक" लेख रहता है। पिछला शब्द अभी तक और जगह नहीं पढ़ा गया था। रोहतक की राजसंस्था मरु (राजपूताना) और बहुधान्यक इन दो प्रदेशों पर अधिकार रखती थी। महाभारत में लिखा है कि यह स्थान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कार्तिकेय स्वामी को प्रिय था। एक प्रकार की यौधेय मुद्राओं पर कार्तिकेय स्वामी का चित्र मिलता है जिससे महाभारत की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। इन मुद्राओं से और लेखों से सिद्ध होता है कि उत्तर राजपूताना, पूर्वीय पंजाब और कुरुक्षेत्र तक अर्थात् सतलज और यमुना के बीच का देश कोई चार यौधेय प्रजातंत्र राज्यों में सम्मिलित था और ये चार राज्य एक ही संस्था में बँधे हुए थे। समुद्रगुप्त के समय में भी राजपूताना यौधेयों के राज्य में था। यौधेय अच्छे ऊँचे कुल के क्षत्रिय थे। आधुनिक राजपूतानावासी राजपूत इन्हीं यौधेयों की संतान जान पड़ते हैं। ईसा की द्वितीय शताब्दी में रुद्रदमन गिरनार के शिलालेख में इन यौधेयों का वर्णन करता है। तब ये उत्तर राजपूताना में थे और दक्षिण राजपूताना मालव्य गणों के अधिकार में था।

२—श्रावस्ती में भी हिंदूकाल की टकसाल गत वर्ष में मिली है।

३—दुबले बैलवाले सिक्के अब नाग-वाकाटक काल के कहे जा सकते हैं क्योंकि भारशिव नाग राजा भवनाग के सिक्के मिले हैं जिनसे यह बात जान पड़ती है।

४—मौर्यराज्य के चार चिह्न थे, 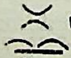 पहाड़ पर चंद्रमा, पोला स्वस्तिक, ब्राह्मी अक्षर म, और आँख।

५—कोशाम्बी (इलाहाबाद जिले का कोसम) महत्व का स्थान है। हर साल यहाँ पुराने सिक्के ईसा के १००-२०० वर्ष पूर्व के मिलते हैं। हाल में राय कृष्णदासजी को कलाभवन के लिये कोई ७०० पुराने सिक्के वहाँ मिले हैं। यदि वहाँ खुदाई होवे तो वहाँ कई प्रकार की पुरानी मुद्राएँ मिलेंगी।

६—मुद्रा-शास्त्रज्ञों को पुराने हिंदू शासन-काल की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। इसी काल के विषय में विशेष प्रकाश की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आवश्यकता है और प्राचीन मुद्राओं से इस काल पर अधिक प्रकाश पड़ सकता है। बनारस के श्री दुर्गाप्रसादजी का इस विषय का अखंड प्रयत्न सराहनीय है। मौर्य-मुद्रा-चिह्नों का निश्चय हो जाने से अब ठप्पेवाली मुद्राओं का समय विशेष बारीकी से निर्णय हो सकता है। दुर्गाप्रसादजी को मथुरा से कुछ ठप्पों के चिह्नवाली मुद्राएँ मिली हैं। वे शौरसेन वंश की कही जा सकती हैं जिसका अंत बुद्ध के समय में हुआ। अवंति के राजा प्रद्योत का राज्य मथुरा तक था।

७—बिहार के रधिया ग्राम में एक सिक्कों की निधि मिली है जो कुशन-काल की है। इससे सिद्ध होता है कि कुशन-राज्य की सीमा चंपारन जिले तक फैली हुई थी। इससे यह संभावना भी सिद्ध होती है कि नैपाल भी उसी राज्य के अंतर्गत था। इसके लिये और भी प्रमाण हैं।

× × ×

आरकियालाजिकल सरवे आफ इंडिया की १९२९-३० की रिपोर्ट इस साल प्रकाशित हुई है। नई शोध और खुदाई का परिणाम यह निश्चित हुआ है कि सिंधु तराई की सभ्यता अंबाला तक प्रचलित थी। इस जिले के कोटला निहंग ग्राम में खुदाई करने से हरप्पा और मोहेंजोदरो सरीखी ईंटें निकली हैं।

मद्रास हाते के गुंटूर जिले के पालनाड़ तालुक में नागार्जुन कोंडा एक पुरानी राजधानी का भग्नावशेष है। वहाँ पूर्व में कई शिलालेख मिले हैं। इस वर्ष भी यहाँ कई नए शिलालेख मिले हैं जिनसे इक्ष्वाकु राजवंश के इतिहास संबंधी कई नई बातें प्रगट हुई हैं। ये शिलालेख सन ईस्वी की तृतीय शताब्दी के हैं।

चरखारी राज्य में कुछ ताम्रपत्र मिले हैं जिनमें से एक विक्रम संवत् १२३६ का है। इसमें एक दान का लेख है जिसमें से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवान् बुद्ध की पाँच हल की जमीन अलग रख ली गई है। इससे निश्चय होता है कि उत्तर भारत में **बौद्धधर्म १२ वीं शताब्दी** तक प्रचलित रहा।

× × ×

बंबई की रायल एशियाटिक सोसायटी के जरनल के सेप्टेंबर १९३६ वाले अंक में श्री पी० वी० काने का लेख कलिवर्ज्य बातों पर है। आपका कथन है कि युग शब्द ऋग्वेद में कम से कम ३८ बार आया है पर आधुनिक अर्थ में नहीं। "कृत" शब्द अच्छे, भाग्यदायक के अर्थ में और "कलि" अभागे के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। विष्णु धर्मसूत्र महाभारत (वन प० १४९-१८३), मनुस्मृति (१-८१ से ८६), पुराण (जैसे ब्रह्म अ० १२२-१२३, मत्स्य अ १४२-४३, नारदीय पूर्वार्द्ध अ० ४१) आदि में चतुर्युग और उनमें बढ़ते जाते धर्मलोप का पूरा पूरा खुलासा है। इससे यह कल्पना की जा सकती है कि ईसा के पूर्व पाँच सौ छः सौ वर्ष में यह सिद्धांत धीरे धीरे पूर्ण रूप धारण करता गया। इससे धर्मशास्त्र के लेखकों को यह सुविधा हुई कि जो जो आचार कालांतर में अनुचित जँचने लगे उन्हें कलि में वर्ज्य कर दिया। पराशर ने अपनी स्मृति कलि के लिये लिखी थी (देखिए १-२४)। उन्होंने स्त्रियों के लिये पति के नष्ट, मृत, क्लीव, संन्यास लेने और पतित होने आदि पाँच आपदों में अन्य पति ग्रहण करने की आज्ञा दी थी[१]। उस स्मृति के अनुसार ब्राह्मण दास अहीर ग्वाल नाई कुलमित्र आदि का राँधा भोजन खा सकता था[२] पर पिछले काल के

---

(१) नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ। पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते। पराशर ४।

(२) दासनापितगोपालकुलमित्रार्धसीरिणः। एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत्॥ परा० ११।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेखकों ने इसे वर्ज्य कर दिया। प्रजापतिस्मृति में श्राद्धकाल में मांस-पिंड देने की प्रथा का उल्लेख करते हुए कहा है कि कलियुग में श्राद्ध में मांस मदिरा का देना मना है[1]। शोध से ऐसा जान पड़ता है कि सन ईस्वी की चौथी शताब्दी के समय से कलिवर्ज्य नियम बृहस्पति और दूसरे पुराने स्मृतिकारों के द्वारा बनने लगे। बारहवीं शताब्दी में कलिवर्ज्य की सूची बहुत बढ़ गई। उन लंबी सूचियों में से यहाँ केवल कुछ ही बातें लिखेंगे—

(१) पति के मरने पर देवर द्वारा संतान उत्पन्न करना। इस नियोग की गौतम (१८,६-१४), नारद (५८), याज्ञवल्क्य (१,६८-६९) में आज्ञा दी गई है पर मनु (९, ६४-६८) और बृहस्पति उसे वर्ज्य कहते हैं।

(२) विवाहित पर अक्षत कन्या के और पति के साथ रही विधवा के पुनर्लग्न की आज्ञा नारद (स्त्री पुंस श्लो० ९८-१००) और पराशर देते हैं। वशिष्ठ और बौधायन केवल अक्षत विवाहिता कन्या के पुनर्लग्न की आज्ञा देते हैं।

(३) पुरानी स्मृतियों में अनुलोम विवाह की आज्ञा है जैसे बौधायन धर्मसूत्र (१-८, २-५), मनु (३,१४-१९) और याज्ञवल्क्य (१, ५६-५७)।

(४) आततायिन् ब्राह्मण की हत्या, (५) महाप्रस्थान (६) गोमेध में गौ का वध करना (देखिए सांख्यायन श्रौत १४,१५,१, कात्यायन श्रौत २२,११,३-४, मनु ११-७४) (७) वानप्रस्थआश्रम, (८) ब्राह्मण का प्राणदंड, (९) मंत्र पढ़कर मांस का मधुपर्क पितृ, मेहमान और दूल्हा को देना (गौतम ५,२५-३५, याज्ञव० १-१०९, आश्वगृह्य सू० १-२४-२६),(१०) अग्निप्रवेश या पहाड़ से गिरकर आत्मघात करना, (११) व्यभिचार के कारण स्त्री-त्याग इत्यादि कलि में वर्ज्य हैं।

---

(१) मद्यमप्यमृतं श्राद्धे कलौ तत्तु विवर्जयेत्। मांसान्यपि हि सर्वाणि युगधर्मक्रमाद्भवेत्। प्रजापति श्लो० १५१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदित्यपुराण, स्मृतिचंद्रिका, निर्णयसिंधु आदि ग्रंथों में कलिवर्ज्य बातों की पूर्ण सूची दी हुई है।

बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसायटी के जरनल के जून १९३६ के अंक में डाक्टर के० पो० जायसवाल का एक लेख शुंगकालीन यौधेय बहुधान्यक जाति की रोहतक जिले में पाई गई, टकसाल के विषय में है। लखनऊ विश्वविद्यालय के डाक्टर बी० साहनी को रोहतक ग्राम के खोकराकोट नामी टीले में केवल ३ फुट की गहराई के नीचे सिक्के ढालने के सैकड़ों साँचे मिले। ये साँचे गोल परई या तश्तरी में जमे हुए थे। एक एक के ऊपर कई तश्तरियाँ रखी जाती थीं। गली हुई धातु ऊपर से डालने पर उन सब साँचों में पहुँच सके इस हेतु धातु जाने के लिये नालियाँ और सूराख बने रहते थे और साँचे उलटी और सीधी छाप लगाने के लिये व्यवस्थित रहते थे। अनावश्यक धातु बहकर बाहर आ जाने के लिये भी नालियाँ बनी हुई रहती थीं। इन मुद्राओं पर "यौधेयान बहुधाणके" लिखा रहता था। इसका अर्थ हुआ बहुधान्यक यौधेयों का।

यौधेय पंचायती राज्यों का एक संघ था। महाभारत सभा-पर्व अध्याय ३५ (कुंभको० संस्क०) में बहुधनवाले रोहीतक का वर्णन है। बहुधान्यक मुद्राएँ बहुधा सफेद काँसे की रहती थीं। इस संघ में तीन राज्य संमिलित थे और उसकी हद में भावलपुर, होशियारपुर से भरतपुर तक, और रोहतक और सहारनपुर जिले शामिल थे।

मनियार मठ राजगिरि की १९३२-३३ की खुदाई में एक लाल रेतीला पत्थर निकला है जो ७$\frac{1}{2}$ इंच लंबा और ६ इंच चौड़ा है। इसमें एक मूर्ति बनी है। यह मूर्ति एक पहाड़ पर बैठी है, एक पाँव सिमटा हुआ है और दूसरा नीचे लटकता है। कुछ दूर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नीचे एक और मूर्ति है, जो ऊपर की मूर्ति को देख रही है। इसमें दो रेखाओं का एक पूर्ण लेख है। उसमें यह लिखा है—

(प्रथम रेखा) पर्वतो विपुल

(द्वितीय रेखा) राजा श्रेणिक

इसका अर्थ यह हुआ कि यह पर्वत विपुल है (राजगिरि के पाँच पहाड़ों में से एक) और यह राजा श्रेणिक (बिंबसार) है। अक्षर प्रथम शताब्दी स० ई० के हैं। बिंबसार का जैनधर्म में श्रेणिक नाम है। यह शिलालेख का प्रमाण मगध के राजा के विषय में है और वह उसके मरने के ५०० वर्ष के भीतर ही लिखा गया था।

पंड्या बैजनाथ

(२) आलोचना

ग्वालियर राज्य के पुरातत्त्व विभाग ने हमारे पास दो पुस्तकें समालोचनार्थ भेजी हैं, Archæological Museum at Gwalior और Archæology in Gwalior. प्रथम में म्यूजियमस्थित वस्तुओं का वर्णन तथा उनके सुंदर चित्र १८ प्लेटों में दिए हैं। दूसरी में सारे राज्य की पुरातत्त्व-संबंधी वस्तुओं का वर्णन है और ३४ सुंदर चित्र भी हैं। स्टेट का एक नकशा भी दिया है। यह पुस्तक (Guide) मार्ग-दर्शक है। कहाँ कैसे जाना, कहाँ ठहरना और क्या देखना इन सब बातों का पूरा पूरा खुलासा है। इन पुस्तकों से दर्शक को पूरा पूरा हाल ज्ञात हो जाता है। ये पुस्तकें सरल अँगरेजी भाषा में हैं; प्रथम का मूल्य ॥।) और द्वितीय का १॥।); सुपरिंटेंडेंट, आरकियालाजी, मोतीमहल, ग्वालियर से प्राप्य। इस राज्य में पुरातत्त्व की खोज की सुंदर व्यवस्था है। हरएक द्रष्टव्य स्थान को साफ और सुंदर बनाकर वहाँ लेख लिख दिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गए हैं जिनसे दर्शक को उनका सब हाल मालूम हो जाता है। इसी राज्य में हेलियोडोरस का ब्राह्मी लेखवाला स्तंभ (वेसनगर का खाम बाबा) ई० पू० द्वितीय शताब्दी का है जिसके लेख से प्रकट होता है कि उस समय भागवत-धर्म प्रचलित था। क्या अच्छा होता कि राज्य द्वारा उज्जयिनी और वेसनगर की खुदाई होती। उससे इतिहास पर कितना नया प्रकाश पड़ता! हम सुपरिंटेंडेंट श्रीमान् गर्देजी को बधाई देते हैं कि उन्होंने ऐसी सुंदर पुस्तकें सस्ते दामों पर लोकहितार्थ प्रकाशित की हैं। और राज्यों को भी, जहाँ इनका अभाव हो, इनका अनुकरण करना चाहिए।

पंड्या बैजनाथ

उर्दू-हिंदी-कोष—संपादक बा० रामचंद्र वर्मा। प्रकाशक—हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बंबई। पृ० सं० ४४०, डबल डिमाई साइज जिल्द सहित का मूल्य २॥)। छपाई, सफाई, कागज तथा जिल्द सभी उत्तम हैं। पुस्तक संग्रहणीय है।

इस ग्रंथ के नाम को देखकर पहले एकाएक यह धारणा की जायगी कि इस कोश ग्रंथ में उर्दू के हिंदी पर्याय दिए गए हैं पर ग्रंथ को देखने पर ज्ञात हो जायगा कि तथ्य कुछ और ही है। नवें फार्म के सोलह पृष्ठों में जितने शब्द संगृहीत हैं उनमें सभी फारसी तथा अरबी के हैं और उन्हीं के हिंदी पर्याय दिए हैं। ऐसा होते यह अरबी-फारसी-हिंदी कोश न कहलाकर उर्दू-हिंदी-कोश उसी प्रकार कहा जाता है जिस प्रकार "हर आईन: काबिल-इखराज अस्त' का 'हर आईन: काबिल-इखराज है' उर्दू रूपांतर कहा जाता है। आजकल के उर्दू के हिमायती 'हर तरह खारिज होने के काबिल हैं' इतना उर्दूपन भी गवारा नहीं कर सकते। वे 'निम्नलिखित' पर आक्षेप करनेवाले होंगे, हस्ब-जैल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर नहीं। वास्तव में उर्दू-हिंदी वह हिंदी है, जो फारस-अरब से आए हुए सैनिकों के पड़ाव में इस देश के लोगों से बातचीत करने में प्रयुक्त होती थी। तेरहवीं शताब्दी में खुसरो ने इसी में सुगमता लाने को खालिकबारी लिखी थी। 'सोजनो रिश्तः बहिंदी सूई ताग' युक्त खालिकबारी ठीक इसी ग्रंथ के समान उर्दू-हिंदी-कोश है। फारसी शब्द सोजन व रिश्तः का हिंदी पर्याय सूई-तागा दिया गया है। वही उर्दू की व्यावहारिक हिंदी उर्दू-हिंदी या उर्दू मात्र कही जाने लगी। अस्तु, इस ग्रंथ के योग्य संपादक ने एक पंथ दो काज किए हैं अर्थात् उर्दू-हिंदी-कोश के साथ कुछ कमी सहित अरबी-फारसी-हिंदी कोश भी तैयार कर दिया है और इसके लिये वे हिंदी-भाषी जनता के विशेष धन्यवादार्ह हैं। भूमिका में आपने कुछ व्याकरण-संबंधी बातें लिख दी हैं, जिससे कोश देखने में, समझने में, सुगमता होगी। यह ग्रंथ बड़े अवसर पर निकला भी है, क्योंकि अब देखा जाता है कि फारसी-अरबी के बड़े बड़े शब्द, आमफहम माने जाकर, संस्कृत के मुकाबले में हिंदी को हिंदुस्तानी बनाने के लिये प्रयुक्त किए जाने लगे हैं और यदि उन्हें समझना है तो कोशों का आश्रय लेना ही पड़ेगा। संपादक तथा प्रकाशक की इस दूरदर्शिता की अवश्य दाद दी जानी चाहिए।

व्रजरत्नदास

Annual Bibliography of Indian archæology—1934. Kern Institute Legden. मूल्य ६)

कर्न इंस्टिट्यूट से प्रत्येक वर्ष भारतीय पुरातत्त्व खोज संबंधी पुस्तक अँगरेजी में प्रकाशित होती है। इसका संपादन भारत के तथा विदेशी विद्वानों द्वारा होता है। देश और विदेश में पुरातत्त्व-संबंधी जो खोजें होती हैं उनका साधारण सिंहावलोकन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस पुस्तक में होता है और वर्ष भर में पुरातत्त्व-संबंधी जो पुस्तकें प्रकाशित होती हैं उनकी भी सूची होती है। उपर्युक्त पुस्तक में सन् १९३३-३४ का विवरण है।

आर्थिक कठिनाइयों के कारण इस वर्ष विशेष खोदाई का कार्य न हो सका। फिर भी जो काम हुआ उसमें कुछ ऐतिहासिक महत्त्व की वस्तुएँ प्राप्त हुईं। महेंजोदरो में एक विशेष मुहर पकी मिट्टी पर बनी मिली जिसमें 'पैशाचिक नृत्य' का चित्र है। कोइम-बतूर में कुछ प्राचीन पत्थर के टुकड़े मिले हैं जिनकी पालिश और चिकनाहट ईरान में पाए हुए पत्थरों से मिलती है। नालंदा और दिल्ली के पास भी खुदाई हुई जिसमें भी महत्त्व की वस्तुएँ प्राप्त हुईं। आरंभ में पचास पृष्ठों की भूमिका दी हुई है जिससे प्रस्तुत वर्ष के सिक्कों तथा पुरातत्त्व-विषयक खोज की एक साधारण जानकारी हो जाती है। लंका और श्याम के विषय में भी छोटी छोटी टिप्पणियाँ हैं और वहाँ की पुरातत्त्व संबंधी खोजों का दिग्दर्शन है। जावा पर भी एक लेख है। लेख और पुस्तकें मिलाकर ५४७ रचनाएँ भारतीय पुरातत्त्व और मुद्रा संबंधी इस वर्ष हुईं। इस पुस्तक में सब पर एक छोटा नोट है तथा कहाँ और किस पत्र में छपी हैं, अथवा पुस्तक कहाँ से प्रकाशित हुई है इसका विवरण है। लंका, श्याम, पश्चिमी तथा मध्यएशिया संबंधी लेखों तथा पुस्तकों की भी सूची है। अंत में आठ चित्र भी हैं।

पुरातत्त्व से प्रेम रखनेवाले विद्वानों के लिये यह एक आवश्यक और बड़ी उपयोगी पुस्तक है। और ऐसे विद्वानों को इसकी एक प्रति रखनी चाहिए, जो आकर ग्रंथ का काम देगी।

Hindi Folk Songs ए० जी० शिरेफ, आई० सी० एस० रचित, प्रकाशक हिंदी-मंदिर, प्रयाग, मूल्य १) पृष्ठ संख्या ५३। रायल एशि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain: Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

याटिक सोसाइटी के पत्र में शिरेफ साहब ने पंद्रह हिंदी ग्राम-गीतों का अनुवाद अँगरेजी में छपवाया था और उसी के संबंध में एक लेख भी लिखा था। वही पुस्तकाकार छापा गया है। इस पुस्तक में ग्राम-गीतों के संबंध में एक साधारण वक्तव्य है और अंत में अठारह मूल ग्राम-गीत हैं। उनमें से पंद्रह का अँगरेजी में पद्य-बद्ध अनुवाद है। अँगरेजी पाठकों की सुविधा के लिये शिरेफ साहब ने कहीं कहीं अनुवाद में स्वतंत्रता से काम लिया है, और वे टिप्पणी भी देते गए हैं। अनुवाद बहुत ही सफल हुआ है। यदि मूल न पढ़ा जाय तो मौलिक रचना का आनंद मिलता है। और यदि मूल से मिलाइए तो मूल की आत्मा अनुवाद में स्थित है। शिरेफ साहब की कविता सरस है और उसमें बड़ी जान आ गई है। दो-एक स्थल देखिए, एक गीत की ये पंक्तियाँ हैं—

मूल

सोने क खड़उवाँ राजा दसरथ खुदुरु खुदुरु चले।
राजा गइलें केदलिआ के बन में त काँट गड़ि गइलनि ॥

अनुवाद

Clop-clip clop in his garden close,
On his clogs of gold king Dasrath goes.
And as he wanders to and fro
A thorn runs into his royal toe.

एक और गीत का अनुवाद यों है—

मूल

बूँदन भीजै मेरी सारी, मैं कैसे आऊँ बालमा।
एक तो मेह झमाझम बरसै, दूजे पवन-झकोर ॥
आऊँ तो भीजे मोरी सुरँग चुनरिया नाहिं त छुटत सनेह।
नाहीं डर बहुअरि भीजै क चुनरिया, डर बहुअरि छुटै क सनेह।
सनेह से चुनरी होइहैं बहुअरि चुनरी से नाहिन सनेह ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद

Heavily the rain pours down
And the wind in gusts is beating.
I shall spoil my pretty gown
If I keep my promised meeting
with my love.
Do not fear the rain may wet you ;
Only fear our love to sever.
Love may pretty dresses get you ;
But a pretty dress will never
get you love.

अनुवाद तो सुंदर है ही, अँगरेजी पाठकों के लिये बिलकुल मौलिक कविता हो गई है। कहीं कहीं आपने सफलतापूर्वक 'स्काच' भाषा का प्रयोग किया है, जो 'हमें बर्न्स की याद दिला देती है। अँगरेजी पाठकों के लिये पुस्तक मनोरंजक तो होगी ही, भारतीय स्वाभाविक ग्राम के भावों को उनके सामने यह पुस्तक रखेगी। इस पुस्तक पर हम शिरेफ साहब को बधाई देते हैं।

फिर निराशा क्यों—लेखक श्री गुलाबराय, एम० ए०, प्रकाशक गंगा-पुस्तकमाला, लखनऊ। पृष्ठ-संख्या १०४; मूल्य ।।।)।

इस पुस्तक में लेखक के अठारह छोटे छोटे निबंधों का संग्रह है। श्री गुलाबराय हिंदी में मनोवैज्ञानिक लेखों के लिये ख्याति पा चुके हैं। इन लेखों में जीवन की विभिन्न साधारण बातों पर लेखक ने अपने विचारानुसार प्रकाश डाला है और सभी स्थितियों में आशा और आनंद का ही रूप निदर्शन करने की चेष्टा की है। विफलता में सफलता, दुख में सुख और विपत्ति में आनंद की मनोवृत्ति उत्पन्न करने पर जोर दिया है। अँगरेजी में जैसे डाक्टर मारडेन की अथवा ट्राइन की पुस्तकें हैं उसी ढंग की यह पुस्तक है। नवयुवकोपयोगी है।

कृष्णदेवप्रसाद गौड़

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१३) उत्तरकांड और श्री वाल्मीकि-रामायण

[लेखक—ब्रह्मचारी श्री भगवदाचार्य, बड़ोदा]

ना० प्र० पत्रिका के भाग १७ अंक ३ में बा० श्री हृदयनारायण सिंहजी ने "क्या उत्तरकांड वाल्मीकि-रचित है ?" इस लेख में एक बहुत विचारणीय प्रकरण का उत्थान किया है। मैं आपके इस लेख से, एकाध अंश को छोड़कर, सर्वथा सहमत हूँ। इस विषय पर मैं बहुत दिनों से विचार कर रहा हूँ। श्री रामायण में ही वास्तविक रीति से भारतीय संस्कृति की भव्य रूप-रेखा चित्रित हुई है। भगवान् राम ही, हिंदू जाति के गर्व के लिये निर्मल और सबल आधार हैं। भगवान् राम के चरित-चंद्र में कालिमा की एक भी रेखा नहीं है और न रहने पावे इसके लिये प्रत्येक हिंदू को सचेष्ट रहना चाहिए। इसमें अणुमात्र संदेह नहीं कि उत्तरकांड ने भगवान् श्रीराम के चरित को कतिपयांश में अनुपादेय बना रखा है। इसका विचार आज से सहस्रों वर्ष पूर्व में ही होना चाहिए था। कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों के मस्तिष्क ने इस विषय का स्पर्श तक नहीं किया है, आश्चर्य है। मैंने लगभग ४ वर्षों से उत्तरकांड के विरुद्ध लेख लिखना आरंभ किया है। इस पर प्रतिवादियों की लेखनी बहुत असभ्यता के साथ अपना काम भी कर चुकी है। **उत्तरकांड विमर्श**-नामक एक पुस्तक भी मैं लिख चुका हूँ और वह यंत्रालयस्थ है।

मैं बाबू हृदयनारायण सिंहजी के लेख-क्रम से ही अपना विचार प्रकट करना चाहता हूँ। आपने उत्तरकांड को वाल्मीकि-रचित न होने में १० युक्तियाँ दी हैं। मैं प्रथम युक्ति से ही विचारारंभ करता हूँ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदिकाव्य श्री रामायण में ५०० सर्ग तथा २४००० श्लोक हैं, इसे जानते तो सब हैं परंतु इस जानने में तथ्य कितना है, यह विचारणीय है। आज से शायद ५-६ वर्ष पूर्व मैंने माधुरी में एक लेख लिखा था। उसमें मैंने बहुत सुगमता के साथ यह सिद्ध किया था कि वाल्मीकीय रामायण का आरंभ, वर्तमान समय में जहाँ से होता है, वहाँ से नहीं है। उसका आरंभ बालकांड के वर्तमान पाँचवें सर्ग से होता है जिसका प्रथम श्लोक यह है—

सर्वा पूर्वमियं येषामासीत्कृत्स्ना वसुन्धरा।
प्रजापतिमुपादाय नृपाणां जयशालिनाम्॥

इस मेरे कथन की समर्थक युक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) कुश और लव श्रीराम की सभा में बैठे हुए हैं। **पूजयामास पूजार्हौ राम**—राम ने उन दोनों भाइयों का पूजन किया। पश्चात् राम ने लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न से कहा कि **श्रूयतामेतदाख्यानम्** इस आख्यान को तुम सब लोग सुनो।

ततस्तु तौ रामवचःप्रचोदितावगायतां मार्गविधानसम्पदा।
स चापि रामः परिषद्गतः शनैर्बुभूषयासक्तमना बभूव॥

श्री राम ने कुश और लव को गाने के लिये कहा और उन्होंने अपनी पद्धति से उसे गाया। सभा में बैठे हुए राम एकाग्रचित्त हो गए।

राम के कहने से कुश और लव ने जिस कथा का गान किया है वह तो पूर्व के चार सर्गों में नहीं है प्रत्युत पंचम सर्ग से ही उसका आरंभ होता है।

(२) यदि पूर्व के ४ सर्ग भी श्री वाल्मीकि-रचित रामायण के ही अंग होते, तब तो इन दोनों भाइयों को भी वहाँ से ही गाना सिखाया गया होता और यदि ऐसा होता तो राम की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आज्ञा पाकर वे दोनों भाई **सर्वां पूर्वमियम्** से गाने का आरंभ न करके ७९ **तपःस्वाध्यायनिरतम्** से आरंभ करते।

(३) यदि यह रामायण राम के समक्ष कुश और लव दोनों भाइयों से गाया गया होता तो इसका अर्थ यह होता कि जैसे गोस्वामी श्री तुलसीदासजी ने अपने रामायण को उमा-महेश्वर-संवाद से प्रख्यात किया है वैसे ही श्री वाल्मीकिजी ने अपने दो शिष्यों के द्वारा अपने रामायण को प्रख्यात किया है। यदि ऐसा ही होता तो जैसे श्री तुलसीदासजी ने सहस्रों स्थानों में, उमा-महेश्वर के संवाद को सिद्ध करने के लिये, उमा और महेश्वर का नाम लिया है ऐसे ही वाल्मीकिजी भी कहीं भी तो कहते कि हे लव ! और हे कुश ! राम ने ऐसा किया और श्री सीता ने ऐसा किया। रामायण भर में कहीं पर भी लव-कुश की चर्चा नहीं हुई है अतः इसे मानने में कुछ भी प्रमाण नहीं है कि कुश और लव के द्वारा श्री वाल्मीकि-रामायण की प्रसिद्धि हुई है।

किं च यदि ऐसा होता तो कम से कम रामायण के अंत में तो अवश्य ऐसा प्रसंग आना चाहिए था कि इन दोनों के कथा-गान को सुनकर भगवान् और उस सभा के ऊपर अमुक प्रकार का प्रभाव पड़ा। यह भी स्पष्ट होना चाहिए था कि उस कथा को सुनते ही राम और उनके सब भाई तथा उनकी सभा समझ गई कि ये दोनों श्रीराम-कुमार हैं।

(४) बालकांड के वर्तमान तृतीय सर्ग के अंत में कहा है—

स्वराष्ट्ररंजनं चैव वैदेह्याश्च विसर्जनम्।
अनागतं च यत्किञ्चिद्रामस्य वसुधातले॥
तच्चकारोत्तरे काव्ये वाल्मीकिर्भगवानृषिः।

अर्थात् यहाँ पर रामायण की सम्मति गिनाते हुए यह भी कहा गया है कि वाल्मीकिजी ने स्वराष्ट्र-रंजन, वैदेही-विसर्जन तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्य भविष्य की कथाओं को **उत्तरकाव्य** में निबद्ध किया है। यदि वैदेही-विसर्जन एक सत्य घटना हो तो इसी कांड के चतुर्थ सर्ग के प्रथम श्लोक से विरोध आता है।

प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः।
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमर्थवत् ॥

इस श्लोक में प्राप्तराज्य राम की कथा का वर्णन न कहकर **त्यक्तसीत** राम की कथा के वर्णन का कहना अत्यंत संगत होगा। सीता-परित्याग के पश्चात् राम ने और भी कुछ किया ही होगा परंतु उसका निर्देश तृतीय सर्ग के अंत में नहीं हुआ है। वहाँ तो **वैदेह्याश्च विसर्जनम्** इतनी स्पष्ट कथा का उल्लेख है। अतः **प्राप्तराज्य** के बदले **त्यक्तसीत** का कथन अधिक उचित और स्पष्ट है। ऐसा नहीं किया गया है; अतः यह सिद्ध है कि वाल्मीकिजी ने श्रीराम के राज्यारोहण तक की ही कथा लिखी है, इस चतुर्थ सर्ग के निर्माता को इष्ट है।

(५) यदि सीता का त्याग एक सत्य घटना है तब यह प्रश्न उपस्थित है कि कुश और लव से इस रामायण को श्री राम ने कब सुना है? सीता-सम्मेलन से पूर्व या पश्चात्? यदि सीता-सम्मेलन से पूर्व ही सुना है तब तो राम को यह निश्चय ही हो जाना चाहिए कि ये दोनों मेरे ही पुत्र हैं। यदि यह निश्चय उन्हें था तो उत्तरकांड में जब अश्वमेध के समय वाल्मीकिजी इन दोनों पुत्रों का परिचय देने लगे थे तब राम को तथा अन्यों को आश्चर्य क्यों हुआ? देखिए वहाँ का प्रकरण—

तथा तयोः प्रब्रुवतोः कौतूहलसमन्विताः।
श्रोतारश्चैव रामश्च सर्व एव सुविस्मिताः॥

राम को कौतूहल ही हुआ, सो नहीं। उन्होंने तो यह भी पूछा कि—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किं प्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मनः ।
कर्ता काव्यस्य महतः क्व चासौ मुनिपुङ्गवः ॥

अर्थात् इस काव्य की संख्या कितनी है और इसके निर्माता कौन और कहाँ हैं ? यदि राम ने पूर्व ही इस कथा का श्रवण किया है तब तो बालकांड के आरंभ में ही इस यज्ञ से बहुत दिन पूर्व ही उन्हें इस रामायण के संबंध में सब कुछ ज्ञात है। आश्चर्य का तब कारण क्या है ?

एक बात और। यदि यह कथा इस अश्वमेध से पहले बालकांड के उपक्रम के अनुसार सब सभासदों ने सुन रखी थी तो उन्होंने अश्वमेध के समय उत्तरकांड में यह क्यों कहा कि—

उभौ रामस्य सदृशं बिम्बाद्बिम्बमिवोद्धृतौ ।
जटिलौ यदि न स्यातां न वल्कलधरौ यदि ।
विशेषं नाधिगच्छामो गायतो राघवस्य च ॥

यदि दूसरा पक्ष लिया जाय और कहा जाय कि सीता-सम्मेलन के पश्चात् यह कथा सुनी गई है तो यह उत्तरकांड से प्रत्यक्ष विरुद्ध है। वहाँ तो प्रथम कथा सुनी गई है और पश्चात् सीता-सम्मेलन कराया गया है—उभयतः पाशारज्जुः ।

(६) उत्तरकांड में लिखा है कि शत्रुघ्न लवणासुर को मारने के लिये सेना सहित निकले। मार्ग में श्री वाल्मीकि के आश्रम में रात्रि में विश्राम किया। उसी दिन कुश और लव का जन्म हुआ। १२ वर्ष के बाद शत्रुघ्न अयोध्या के लिये लौटे। पुनः उसी आश्रम में रात्रि उन्होंने व्यतीत की। दोनों राम-बालक इसी रामायण को गा रहे थे। सेना ने भी उसे सुना और शत्रुघ्न ने भी। सेना को इस कथा-श्रवण से उस समय आश्चर्य भी हुआ। सैनिकों ने शत्रुघ्न से कहा भी कि आप इस आश्चर्यमयी घटना के संबंध में यहाँ कुछ पूछताछ कीजिए। शत्रुघ्न ने उत्तर दिया—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सैनिका न क्षमोऽस्माकं परिप्रष्टुमिहेदृशः।
आश्चर्याणि बहूनीह भवन्त्यस्याश्रमे मुनेः॥
न तु कौतूहलाद्युक्तमन्वेष्टुं तं महामुनिम्॥

इस प्रकरण से इतना तो स्पष्ट हो रहा है कि शत्रुघ्न को कुश और लव का जन्म भी ज्ञात है और ये दोनों रामकथा-गायक हैं, यह भी ज्ञात है। ये ही दोनों बालक जब शत्रुघ्न की उपस्थिति में राम-सभा में रामायण-गान करते हैं तब शत्रुघ्न क्यों नहीं बोल उठते कि यह वाल्मीकि-आश्रम में रही हुई श्री सीता के कुमार हैं? उत्तरकांड में अश्वमेध के समय भी शत्रुघ्न इस आश्रम-प्रसंग को नहीं छेड़ते। अतः बालकांड में लिखे गए वर्तमान चार सर्ग वाल्मीकि-रामायण के अंग नहीं हैं।

तात्पर्य यह है कि शत्रुघ्न बालकों को जानते थे तो भी सभा में या एकांत में अपने भाइयों को उनके संबंध में, उनके पूर्वश्रुत गायन के संबंध में कुछ नहीं बोलते हैं अतः बालकांड के चार सर्गों की कथा प्रक्षिप्त है। जब ये चार सर्ग प्रक्षिप्त सिद्ध हुए तो इन्हीं में लिखे हुए सर्गों, श्लोकों और कांडों की गणना भी प्रक्षिप्त है। अतः जितने सर्गों और श्लोकों का होना लोग आज मानते हैं वह सर्वथा अविश्वसनीय है।

इतने लंबे विवेचन से मेरा तात्पर्य यह है कि बा० हृदयनारायण सिंहजी जो यह कहते हैं कि "बालकांड के तृतीय सर्ग के अंत में और चौथे सर्ग के आरंभ में उत्तरकांड के आदि-कवि द्वारा रचित होने का जो कथन है वह पीछे से जोड़ा गया है" यह ठीक नहीं है। वस्तुतः बालकांड के आरंभ में चार सर्ग जोड़े गए हैं जिनका वाल्मीकि और उनके रामायण से कुछ भी संबंध नहीं है।

अब मैं आपकी दूसरी युक्ति के अंतिम पैराग्राफ तक पहुँचकर, आपकी तीसरी युक्ति से अपनी सम्मति प्रकट करता हूँ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आपकी चौथी युक्ति कुछ अंश में युक्त है। परंतु काव्य-शैली भेद तो सुंदरकांड में भी कई सर्गों में प्रतीत होता रहता है। उत्तरकांड में भी कितने ही सर्ग भिन्न-कवि-प्रणीत नहीं प्रतीत होते। अतः मैं शैली पर बहुत भार न देकर, इस तत्त्व पर भार देता हूँ, कि उत्तर कांड की कथा भगवत्स्वरूपानुरूप है या नहीं। मेरा बहुत ही दृढ़ मत है कि उत्तरकांड के प्रणेता ने भगवत्स्वरूप को ही नहीं समझा है।

आपकी पाँचवीं युक्ति में मैं इतना और जोड़ देना चाहता हूँ कि यह कांड बलात्कार से पैदा किया हुआ कांड है। इसमें पिछले ६ कांडों में साथ न किसी प्रकार की संगति है और न सामंजस्य। जो कुछ मन में आया वैसा ही, अवश्य ही, एक हृदयशून्य श्लोक-प्रणेता के समान लिख दिया है।

आपकी छठी युक्ति के साथ भी मैं सहमत होता हूँ।

आपकी ७वीं युक्ति पर विचार करना है। मैं पीछे सिद्ध कर आया हूँ कि बालकांड के आदि के ४ सर्ग पूर्णतया प्रक्षिप्त हैं। तब उन सर्गों से मैं न तो यही सिद्ध होना मानता हूँ कि सीताजी के वन में दो पुत्र उत्पन्न हुए और न यही मानता हूँ कि उन बालकों ने अपने पिता को न समझकर, इस रामायण का अध्ययन किया।

युद्धकांड के जिस प्रकरण को लेकर आप यह कहते हैं कि इन्हीं श्लोकों के आधार पर उत्तरकांड रचा गया है, उस प्रकरण और उन श्लोकों से भाव लिया गया हो, यह संभव हो सकता है। परंतु मैं समझता हूँ कि ऐसा हुआ नहीं है। मरे मुर्दे को उखाड़ने की कोई आवश्यकता नहीं थी। सीता-त्याग के पश्चात् भी सीता को केवल वाल्मीकि के कथन और शपथ पर ही राम ने पुनः अंगीकार किया है। देखिए उत्तरकांड—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततो मध्ये जनौघस्य प्रविश्य मुनिपुङ्गवः ।
सीतासहायो वाल्मीकिरिति होवाच राघवम् ॥
इयं दाशरथे: सीता सुव्रता धर्मचारिणी ।
अपवादात्परित्यक्ता ममाश्रमसमीपतः ॥
लोकापवादभीतस्य तव राम महाव्रत ।
प्रत्ययं दास्यते सीता तामनुज्ञातुमर्हसि ॥
इमौ तु जानकीपुत्रावुभौ च यमजातकौ ।
सुतौ तवैव दुर्धर्षौ सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥
प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दनः ।
न स्मराम्यन्ततं वाक्यमिमौ तु तव पुत्रकौ ॥
बहुवर्षसहस्राणि तपश्चर्या मया कृता ।
नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि मैथिली ॥
मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्बिषम् ।
तस्याहं फलमश्नीयामपापा यदि मैथिली ॥

इन सब श्लोकों से वाल्मीकिजी की पुनः पुनः शपथ वर्णित हुई है। अब श्री सीताजी की शपथ को देखिए—

सर्वान्समागतान् दृष्ट्वा सीता काषायवासिनी ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यमधोदृष्टिरवाङ्मुखी ॥
यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥
मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥
यथैतत्सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥

इन सब श्लोकों में श्री सीता ने अपनी पवित्रता को प्रमाणित किया है। लंकाकांड में तो इससे अधिक कठिन परीक्षा में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सीता उत्तीर्ण हो चुकी हैं। तब उसी प्रकरण के सहारे से इस उत्तरकांड के सीतात्याग को पुनः उठाने में कोई स्वारस्य नहीं है। प्रत्युत इस त्याग और संग्रह ने तो राम की बुद्धिमत्ता को ही संदिग्ध बना दिया है। त्याग करने का जो कारण युद्धांत में लंका में उपस्थित था वह तो अग्नि-परीक्षा से ही दूर हो गया। पुनः परित्याग करके पुनः सीता-संग्रह में राम ने नवीन उपाय क्या शोधा? वह तो चर्वितचर्वण ही हुआ। इतने से ही संतोष मानना था तब तो त्याग ही व्यर्थ था।

बा० हृदयनारायणसिंहजी यहाँ पर लिखते हैं कि "...मुझे कभी कभी सीता के परित्याग की घटना की सत्यता में भी संदेह होने लगता है। अर्थात् यह बात मुझे संदिग्ध मालूम होती है कि वास्तव में श्री रामचंद्रजी ने अकारण एक रजक के कहने से निष्पाप सीताजी को वन में निर्वासित कर दिया।" मैं बहुत बल के साथ विद्वान् लेखक महोदय को विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि सीता-त्याग की कथा सर्वथा असत्य है।

एक राजकन्या और राजपत्नी के ऊपर इस प्रकार का आक्षेप हो और उसका पति उसे बिना किसी विचार के जंगल में छोड़ दे, यह तो अत्यंत पाशविक कृत्य है। राम राजा थे। उन्हें अपने मंत्रिमंडल से विचार कर लेना चाहता था। गुरु वशिष्ठ से इस विषय में कुछ पूछना चाहता था। माता कौशल्या से परामर्श कर लेना चाहता था। राम ने यह सब कुछ नहीं किया है। यह बड़ा अन्याय हुआ है। राम के पिछले चरित का श्रवण करने के पश्चात् किसी भी विचारशील और सहृदय को यह बात उचित नहीं प्रतीत हो सकती कि जिस सीता की अग्नि-परीक्षा हो चुकी थी उसे इस प्रकार अपमानित करने की राम के मन में भावना भी उत्पन्न हो।

कुश और लव के संबंध में भी बा० हृदयनारायणसिंहजी से मैं थोड़ा पृथक् पड़ता हूँ। रामायण केवल रामकथा के लिये ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रचा गया है। यह रामायण श्रीराम को केवल मर्यादापुरुषोत्तम मानकर ही नहीं रचा गया है प्रत्युत इसके पीछे भगवदवतार का पवित्र भाव भी है। **"सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुः", "साक्षान्नारायणो भवान्"** इत्यादि युद्धकांड के वचन तथा **"पुत्रत्वं तु गते विष्णौ" "विष्णोः सहायान् बलिनः", "विष्णोरर्द्धं महाभागं पुत्रमिक्ष्वाकुनंदनम्"** इत्यादि बालकांड के वचन मेरे कथन में उपोद्बलक हैं। भगवान् राम ने जगत् के संमुख अपने ब्रह्मत्व को छिपा रखा था। कभी उन्होंने प्रकट नहीं किया कि मैं अवतार हूँ। उनकी सब लीला वन में ही हुई है। अयोध्या में कोई दैवी लीला ही नहीं है। रावण-वध और लंका-विजय के पश्चात् भक्तोद्धार की लीला समाप्त हो जाती है। समाप्ति पर ब्रह्माजी सब के समक्ष घोषणा करते हैं कि **साक्षान्नारायणो भवान्** अथवा **सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुः।** भगवल्लीला के लिये उपक्रांत रामायण में यदि भगवान् के गृह-संसार का वर्णन न हो तो उचित ही है। लव-कुश की उत्पत्ति को श्री रामायण से शोधने का प्रयास उत्तम नहीं है। अतः वे निर्वासित सीता-पुत्र हैं या चक्रवर्ति-महाराज्ञि-पुत्र हैं तथा वे विद्याध्ययनार्थ वाल्मीकि-आश्रम में गए थे अथवा जगदंबा कठोरगर्भा थीं, उसी समय वे वन-दर्शन के लिये गई थीं और वहाँ ही ये दोनों कुमार प्रसूत हुए, इन सब बातों का विचार एक विशेष समय और विशेष मर्यादा की अपेक्षा रखता है।

यदि कुश-लव विदित रामपुत्र होते तो बालकांड के वर्तमान चार सर्गों में उनकी कथा जिस प्रकार से लिखी गई है, न लिखी जाती। न तो राम सभा में उनका पूजन करते और न राम के लिये वे अपरिचित मुनि-कुमार होते। ब्रह्मचारी के वेष में कुश-लव के होने पर भी, राम द्वारा उनकी पूजा ऐसे किसी विशिष्ट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उदाहरण की अपेक्षा रखती है जो पिता से इस प्रकार पुत्र की पूजा के औचित्य का समर्थन करता हो।

आपकी ८ वीं, ९ वीं और अंतिम १० वीं युक्ति से भी प्रायः मैं सर्वथा सहमत हूँ। सब युक्तियों को मैंने कई वर्ष पहले अपने तत्त्वदर्शी मासिक पत्र में दिया है। अब मुझे एक नई बात कहनी है, जिसे बा० हृदयनारायणसिंह जी ने अपने ध्यान में नहीं लिया।

यह उत्तरकांड शब्द भ्रांत प्रयोग है। वस्तुतः यह **उत्तर-काव्य** शब्द था। इस नाम का यह पृथक् ही ग्रंथ है। इसका लिखनेवाला भी—संभव है और बहुत संभव है कि—वाल्मीकि नाम से ही प्रसिद्ध रहा हो जैसे दो **कालिदास**। नाम-सादृश्य से किसी ने बहुत पीछे से इसे वाल्मीकि-रामायण में जोड़ दिया होगा और ऐसा करते हुए उसने **उत्तरकाव्य** को उत्तरकांड नाम दे दिया। इसी लिये अनेक स्थलों में **उत्तरे काव्ये** ऐसा निर्देश हुआ है। **षट्काण्डानि तथोत्तरम्** यह निर्देश भी मेरे पक्ष का समर्थक है। बाल से लेकर युद्ध कांड तक के किसी कांड-विशेष का नाम न लेकर केवल काण्डानि कहा और उत्तरकाण्ड का **उत्तर** यह विशिष्ट नाम लिया गया है। यह सिद्ध कर रहा है कि **उत्तर** एक स्वतंत्र काव्य था जो उत्तरकाव्य के नाम से प्रसिद्धि पा चुका था। युद्ध-कांड में की गई फलश्रुति के पश्चात् पुनः उत्तरकांड के अंत में की गई फलश्रुति भी इस काण्ड के पृथक् स्वतंत्र काव्य होने का ही समर्थन करती है। उत्तरकांड के अंत में—

एतावदेतदाख्यानं **सोत्तरं** ब्रह्मपूजितम्।
रामायणमिति ख्यातं मुख्यं वाल्मीकिना कृतम्॥

इस फलश्रुति श्लोक में **सोत्तरं** पद बलपूर्वक रखा है। **एतावदेतदाख्यानम्** इतना ही पर्याप्त था, **सोत्तरम्** कहने की जरा भी आवश्यकता नहीं थी। ऐसे ही आगे चलकर—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतदाख्यानमायुष्यं **सभविष्यं सहोत्तरम्** ।
कृतवान् प्रचेतसः पुत्रस्तद्ब्रह्माप्यन्वमन्यत ॥

सभविष्यम्, सहोत्तरम्, तद्ब्रह्माप्यन्वमन्यत इत्यादि पद इस श्लोक में मेरे ही आशय को विशद कर रहे हैं।

एक बात मैं कहना भूल गया। वेदवती के संबंध में इस **उत्तर** में जो कथा लिखी गई है वह वाल्मीकि के ६ कांडों से सर्वथा भिन्न है। वाल्मीकि ने श्री जानकी को साक्षात् लक्ष्मी लिखा है। श्री जानकीजी भी अनसूया के समक्ष अपने को इसी ढंग से प्रकट करने का प्रयास करती हुई सी प्रतीत होती हैं। परंतु उत्तरकांड में कवि ने उन्हें स्पष्ट वेदवती का अवतार बना दिया है। यह बहुत असंबद्ध है। भगवद्भक्त श्री जानकी की उपासना इसलिये करते हैं कि वे भगवत्स्वरूप हैं—जगन्नियंत्री और जगन्माता हैं। मुनिकन्यका वेदवती की उपासना का कुछ भी तात्पर्य नहीं है। वेदवती को सीता बताकर एक प्रकार से रामायण के समस्त सौंदर्य पर क्रूर प्रहार किया गया है। भगवद्भक्तों और श्री सीता-भक्तों की हृदय-कलिका पर तुषारापात किया गया है। यह सब विषय परमभागवतगम्य होने से इस पर मैं अभी विशेष नहीं लिखता हूँ।

मेरा पूर्ण विश्वास है कि यदि भारतीय विद्वान् उत्तरकांड को वाल्मीकीय रामायण का प्रक्षिप्त तथा अनुपयुक्त और अयुक्त भाग सिद्धांत रूप में स्वीकार कर लें तो आर्य जाति का पूर्वगौरव सर्वथा निष्कलंक बन जाता है, जगदंबा श्री जानकी के लिये उठे हुए इस अपवाद की शांति हो जाती है और समय समय पर इस दुष्कृत्य के लिये भगवान् राम को जो अयोग्य उपालंभ मिलता रहता है वह भी शांत हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

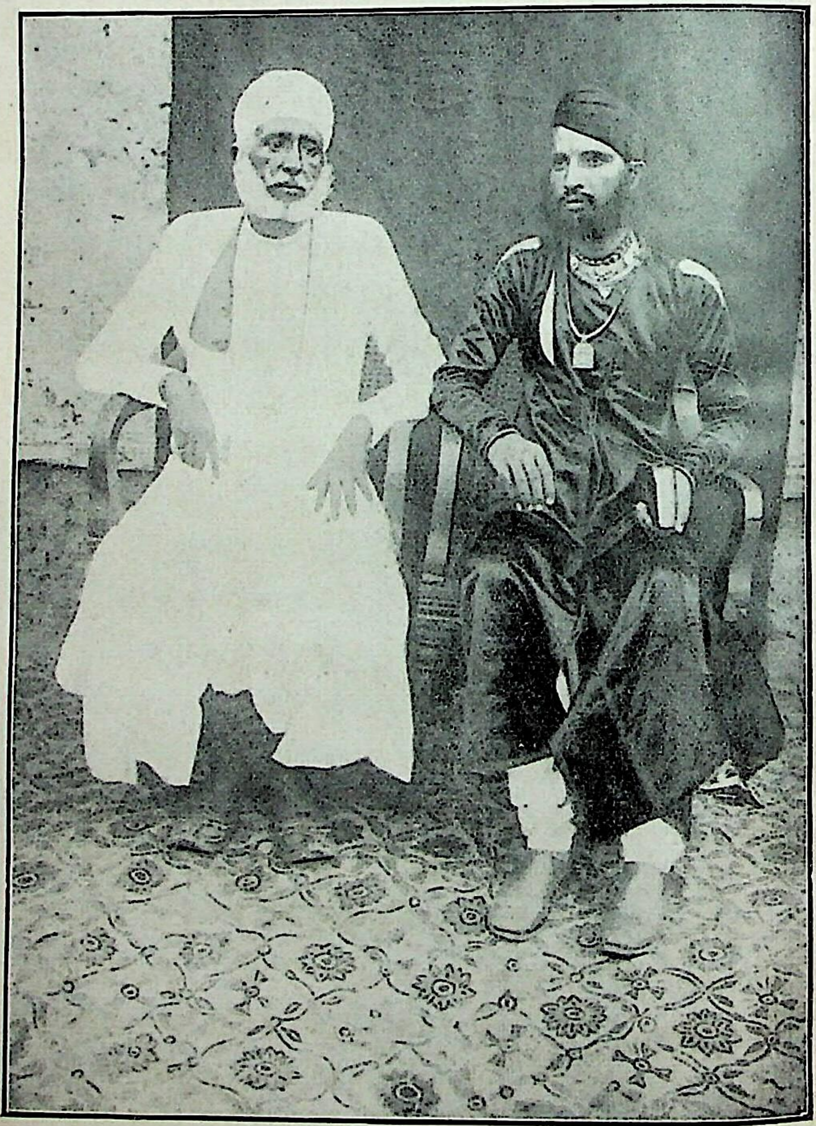

गाडण हरिवकसजी
ग्राम हरमाडे के

कुँअर बालाबख्शजी पालावत
ग्राम हनूंत्या के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१४) स्वर्गीय बारहट बालाबख्शजी पालावत

[ले०—पुरोहित श्री हरिनारायण शर्मा, बी० ए०, विद्याभूषण, जयपुर]

बारहटों में प्रसिद्ध डिंगल पिंगल, और शास्त्रों के ज्ञाता, साहित्यसेवी, काव्यरसमर्मज्ञ, अनेक ग्रंथों के रचियता और दानी-चारण-कुलावतंस बारहट बालाबख्शजी संसार से बिदा हो चुके ! "नागरी-प्रचारिणी पत्रिका" और सभा से संबंध रखनेवाले सज्जनों को उनका विशेष परिचय उनके साहित्यिक दान से होगा जिसके प्रकाश से उनकी संस्थापित "बालाबख्श-राजपूत-चारण-पुस्तकमाला" में उक्त सभा के परिचालकों द्वारा नीचे-लिखे ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं—

(१) बाँकीदास-ग्रंथावली प्रथम भाग ।
(२) बोसलदेव रासा ।
(३) बाँकीदास-ग्रंथावली दूसरा भाग ।
(४) शिखर-वंशोत्पत्ति—पीढ़ी वार्त्तिक ।
(५) ब्रजनिधि-ग्रंथावली ।
(६) ढोला-मारूरा दूहा ।
(७) बाँकीदास-ग्रंथावली तीसरा भाग (छप रहा है) ।

यह दान स्व० कवि बालाबख्शजी चारण ने नवंबर सन् १९२२ में ५०००) देकर, सन् १९२३ में २०००) और दिया, यों ७०००) कर दिए। इससे गवर्मेंट प्रामिसरी नोट के अंकित मूल्य १२०००) होकर ३॥) रुपये सैकड़े वार्षिक सूद से ४२०) सभा कोश में आते हैं। इस सूद से पुस्तकें छपाई जाती हैं। इस विषय में उक्त सभा ने यह नोट प्रकाशित कर रखा है, जो प्रत्येक प्रकाशित पुस्तक पर मुद्रित करा दिया जाता है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"जयपुर राज्य के हणोंतिया ग्राम के रहनेवाले नृसिंहदासजी के पुत्र बारहट बालाबख्शजी की बहुत दिनों से इच्छा थी कि चारणों और राजपूतों की रची हुई ऐतिहासिक और (डिंगल तथा पिंगल) कविता की पुस्तकें प्रकाशित की जायँ जिससे हिंदी-भंडार की पूर्त्ति हो और वे ग्रंथ सदा के लिये रक्षित हो जायँ। इस इच्छा से प्रेरित होकर उन्होंने नवंबर सन् १९२१ में ५०००) काशी-नागरीप्रचारिणी सभा को दिए और सन् १९२३ में २०००) और दिए। इन ७०००) से ३।।) वार्षिक सूद के १२०००) के अंकित मूल्य के गवर्नमेंट प्रामिसरी नोट खरीद लिए गए हैं। इनकी वार्षिक आय ४२०) होगी। बारहट बालाबख्शजी ने यह निश्चय किया है कि इस आय से तथा साधारण व्यय के अनंतर पुस्तकों की बिक्री से जो आय हो अथवा जो कुछ सहायतार्थ और कहीं से मिले उससे 'बालाबख्श-राजपूत-चारण-पुस्तकमाला' नाम की एक ग्रंथावली प्रकाशित की जाय जिसमें पहिले राजपूतों और चारणों के रचित प्राचीन ऐतिहासिक तथा काव्य-ग्रंथ प्रकाशित किए जायँ। और उनके छप जाने अथवा अभाव में किसी जातीय संप्रदाय के किसी व्यक्ति के लिखे प्राचीन ऐसे ऐतिहासिक ग्रंथ, ख्यात आदि छापे जायँ जिनका संबंध चारणों अथवा राजपूतों से हो। बारहट बालाबख्शजी का दान-पत्र "काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा" के तीसवें वार्षिक विवरण में अविकल प्रकाशित कर दिया गया है। उसकी धाराओं के अनुकूल काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा" इस पुस्तकमाला को प्रकाशित करती है।"

इस दान के अतिरिक्त स्व० दानी चारण ने **चारणों के असमर्थ बालकों** के विद्याध्ययन के सहायतार्थ १०,०००) दस हजार रुपया जयपुर राज्य के प्रसिद्ध विद्वान् ठाकुर करणीसिंहजी के स्थापित तथा पालित और उनके सुयोग्य कृतविद्य सुपुत्र राव-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बहादुर ठाकुर नरेंद्रसिंहजी सीनियर मेंबर कौंसिल आफ स्टेट जयपुर के परिचालित "जोबनेर हाईस्कूल" को दिया। इसके ब्याज से जो रुपया आता है उससे लगभग ८ चारण विद्यार्थी उक्त हाईस्कूल में सहायता पाकर पढ़ते हैं।

उक्त दोनों दानों के सिवाय स्व० बालाबख्शजी ने १०००) एक हजार रुपया बैंक में जमा कराके प्रामिसरी नोट खरीद लिए। इसके ब्याज से हणूँतिया ग्राम में एक **प्याऊ** संतत जारी रहती है जिससे पशुओं को पानी मिलता है। और १०००) एक हजार रुपया जोधपुर के "चारण बोर्डिंग हाउस" को दान दिया कि जिसके ब्याज से एक **स्वर्णपदक** उस चारण विद्यार्थी को दिया जाय जो परीक्षा में प्रथम उत्तीर्ण रहे।

उनके दानों की रक्षा और परिचालन के निमित्त एक ट्रस्ट कर दिया गया था जिसके नीचे लिखे मेंबर नामांकित किए गए थे—

(१) रावबहादुर राज श्री ठाकुर साहिब नरेंद्रसिंहजी, जोबनेर।

(२) कविया बारैठ श्री मुरारिदानजी अयाचक, जयपुर।

(३) स्वयं बारहट बालाबख्शजी—अब उनके पुत्र।

(४) सेठ रामकुमारजी सूरजबख्शजी घीया—जयपुर।

(५) पुरोहित हरिनारायण बी० ए० (लेखक)।

जो ग्रंथ प्रकाशित होते हैं उन पर उक्त माला का नाम और स्व० दानी का सुंदर फोटो-ब्लाक—**बस्ट** के आकार में मुद्रित रहता है।

इन दानों के पहले स्व० बालाबख्शजी ने अन्य और भी दान और पुण्यकार्य किए हैं। उनके नामादि आगे दिए जायँगे।

उपर्युक्त १८०००) हजार के तीनों दानों की सारी कार्य-प्रणाली इस जीवनी के लिखनेवाले के हाथों और निरंतर उद्योग और परामर्श से हुई है। जोधपुर का दान १०००) का उन्होंने अपने आप वहाँ जाने पर किया था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्व० बारहटजी का इस अकिंचन के साथ प्रेम था और वे इस पर बहुत श्रद्धा और विश्वास रखते थे। यह लेखक उस स्वर्गीय आत्मा को, एक आदर्श विद्वान् और सच्चा साहित्य-प्रेमी जानकर, उनकी बड़ी प्रतिष्ठा करता था। शोक है कि वे अब नहीं रहे!

राजपूताना के इन विख्यात दानी विद्वान् बारहटजी का कुछ जीवन-चरित्र आज हम लिखते हैं। यह लेख बहुत पहिले लिखा जा चुका होता, परंतु इसकी आवश्यक सामग्री हमको बहुत तकाजा करने पर भी बहुत विलंब से प्राप्त हो सकी थी। इसी का हमको बड़ा दुःख है। अस्तु। जो हुआ सो हुआ। अब इस संक्षिप्त जीवनाख्यान को साहित्य-प्रेमियों और हिंदी प्रचारकों के समक्ष रखते हैं। चारण, धनी और पंडित ही नहीं अन्य जातियों के पुरुषरत्न इन स्वर्गीय बारहटजी का अपने देश के साहित्य के योग-क्षेम के लिये अपने संचित द्रव्य से ऐसे उत्तम कार्य करने में अनुकरण करें। हम जहाँ तक जानते हैं, चारण जाति में सांप्रत में ऐसा चारण सरदार विरला ही होगा जिसने अपने उपार्जित संपत्ति-चय में से साहित्यादि के निमित्त इतना दान किया हो।

बारहट बालाबख्शजी "रोहड़िया" विभाग के "पालावत" खाँप या गोत के चारण, राज्य जयपुर के अंतर्गत मनोहरपुर के शेखावतों के पाटवी मनोहरपुर के रावजी के ठिकाने के गाँव "हणूँतिया" के वासी थे। अपने इस "हणूँतिया" को "हणूँत नग्र" (अर्थात् हनुमत् नगर) कहकर वे एक छंद में वर्णित करते हैं—

जन्मस्थान

"दिल्ली तें नैऋत उदीचि जयपत्तन तें,
प्राची जोधपुर तें अवाची अम्रसर अग्र।
झुंझणूँ तें जातवेद, ईश घाँ रुमापुर तें,
सीकर तें उदित-कुकुभ सुख को समग्र॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेधाविक भृंग हेत बिकसित पुंडरीक,
उर्वी कदंब मौलि-मंडित अनंत उग्र।
बाकबानी बातजाता आलय अमल ऐसो,
चूडामणि बुद्धन को विदित **हनूँत नग्र**" ॥ १ ॥

इनके पिता का नाम **निरसंघदासजी** (नृसिंहदासजी), दादा का जसराजजी, परदादा का हुकमरामजी था। इनकी वंश-परंपरा इस प्रकार है। **पाला** (वा पाल्हो वा पाल्हा), जिसके नाम से ये लोग "पालावत" कहाए, इनके आदि पुरुषा हुए, जो बड़े प्रतापी थे। मारवाड़ में आदू निवास था। वहाँ के **चांद्मा** गाँव से उठकर **त्यारी** गाँव में बसे। त्यारी से नागोर के **खारी** गाँव में बहुत वर्षों रहे। फिर खारी से उठकर ढूँढाहड़ (जयपुर आमेर की धरती) में **खेड़ा** गाँव में आ बसे। खेड़ा गाँव को छोड़कर **झालवाड़** में आए। यहाँ दो हजार बीघा जमीन मिली जिसमें "उदिकपुरा" गाँव बसाया।

वंश-परंपरा

पालाजी के पुत्र साँवलदासजी हुए जिन्होंने राव मनोहरजी के पिता राव **लूँणकरणजी** से (अकबर के समय में) गाँव **नाड़ा** (प्रसिद्ध में चारणवास) पाया। साँवलदासजी के चार पुत्र हुए १—केसोदासजी। २—गिरधरदासजी। ३—भूधरदासजी। ४—बनमालीदासजी। उक्त चारणवास में चारों इन्हीं के चार थाँभे हुए। इनमें से **भूधरदासजी** के थाँभे में बालाबख्शजी का वंश है। भूधरदासजी के तीन पुत्र हुए-१—अचलदासजी, २—अमरदासजी, ३—हररामजी। अचलदासजी के अखैराजजी। अखैराजजी के प्रागदासजी। प्रागदासजी के रामदासजी। रामदास जी के **हुकमरामजी** और हरभगतजी। हुकमरामजी के-१-लछमणजी, २-**जसराजजी**, ३-सूजोजी, ४-सीतारामजी। उक्त हरभ-

३६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गतजी के भैरोंदानजी। भैरोंदानजी के रामप्रतापजी। और रामप्रतापजी के पँनजी। उक्त २ जसराजजी के **नरसिंहदासजी** हुए। नरसिंहदासजी के चार पुत्र हुए—१–**बालाबख्शजी**, २–शिवबख्शजी, ३–डालजी, ४–सालजी। उक्त सूजोजी के चतरजी। और चतरजी के स्योबकसजी, स्योदानजी हुए। स्योबकसजी के **अमरदानजी** हुए जो बालाबख्शजी के **दत्तक पुत्र** हैं अर्थात् गोद हुए। और अमरदानजी के छोटे भाई प्रभुदानजी हैं। और प्रभुदानजी के अभयकरण और विहारीदान दो पुत्र हैं।

प्रागदासजी के पुत्र **रामदासजी** अच्छी कविता करते थे और प्रागदासजी भी कवि थे। साँवलदासजी के **भूधरदासजी** भी कवि थे। इन सब की कविताएँ बालाबख्शजी के संग्रह में हैं। अपनी वंशपरंपरा को विस्तार से बालाबख्शजी अपने लिखित ग्रंथों वा पत्रों में छोड़ गए हैं। तदनुसार ही यह परंपरा लिखी गई है।

बालाबख्शजी का **जन्म हणूँतिया ग्राम** में मिती कार्त्तिक शुक्ला ५ बुधवार को संवत् १९१२ में हुआ था। इनकी जन्मपत्री एक अच्छे ज्योतिषी की बनाई हुई है। उसमें जन्मकुंडली दी हुई है, उसकी नकल इस प्रकार है—

जन्मलग्न

"श्रीगणेशाय नमः। अथ शकसंवत्सरादिभिर्ज्जन्मसमयो निरूप्यते। अथाऽस्मिन् शुभसंवत्सरे श्रीमन्नृपतिविक्रमार्कराज्यातीत १९१२। तथा श्रीशालिवाहने शकाब्दे १७१७ वर्षे। प्रवर्त्त-माने याम्यायनेऽर्के याम्यगोलावलंबिनीश्रीमार्त्तण्डे। शरदृत्तौ। मासानामुत्तमे मासे **कार्त्तिक**मासे शुभे **धवल**पक्षे। पुण्यतिथौ पञ्चम्याम् ५। चांद्रवासरे घट्यः ३५ पलानि २७। पूर्वाषाढे भे घट्यः २३ पलानि ४९। शूलाख्ययोगे घट्यः ३७ पलानि २१। ववाख्यकरणे घट्यः ७ पलानि २५। एवं पञ्चाङ्गशुद्धिः। अद्वि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानम् घट्यः २६ पलानि ५०। रात्रिप्रमाणम् घट्यः ३३ पलानि २०। अहोरात्रम् घट्यः ६०। पलानि ०। तत्र श्रीमन् मिहर-मण्डलादर्द्धोदयादिष्टघट्यः ९ पलानि १। श्रीसूर्यप्रमाणमत्र ६। २९। ३१। ३४। तत्समये धनुलग्नोदये। चन्द्रहोरायाम्। भौमद्रेष्काणे। भौमसप्तांशे। बुधनवांशे। चन्द्रद्वादशांशे। गुरुत्रिंशांशे। एवम् शुभषड्वर्गवेलायाम्। श्रीगङ्गाजलनिर्मल परमपवित्र देव-कुलोद्भव धर्ममूर्त्तिः सकलगुणगणालङ्कृत बारहटजी श्रीहुकमरामजी। तस्यात्मज सकल नृपति पूज्य सुकीर्त्तिमान् बारहटजी श्रीयशरामजी। तस्यात्मज बारहटजी श्रीनृसिंहदासजी गृहे स्वभार्याकुक्षौ पुत्रो जातः। तस्याभिधानम् अवकहडचक्रानुसारेण पूर्वाषाढभस्य तूर्य्यपादानुगम् ढकाराक्षरेण प्रतिष्ठितम्। उल्लापने **बालाबकसः**। स च देव-द्विजप्रसादात् दीर्घायुर्भूयात्॥ अस्य राशिः ९। गुरुः स्वामिः। क्षत्री वर्णः। चतुष्पदराशिः। मर्कटयोनिः। मनुष्यगणः। मध्यानाडी। श्वानवर्गः परभागयुञ्जाः। इत्यादयो विवाहादौ सर्वे चिन्तनीयाः। शुभमस्तु॥

अथ जन्मचक्रम् जन्माङ्गसहितम्।

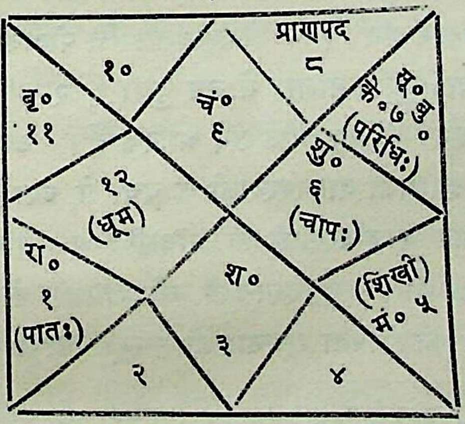

॥ शुभम्॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बालाबख्शजी की माता का नाम **चाँदबाई** था। यह 'चोखा का बास' नामक ग्राम इलाका ठिकाना सीकर राज्य जयपुर की थीं। चाँदबाई के पिता (बालाबख्शजी के नाना) का नाम कविया खूमरामजी था। बालाबख्शजी के दो मामा थे—**गोपालजी** और गिरधारीजी। खूमरामजी के भाई रामनाथजी और जालजी थे। रामनाथजी स्वयं कवि थे और उनकी प्रसिद्धि-प्राप्त पुत्री **समानबाई** बड़ी कवयित्री हुईं जिनके बनाए हुए भदावे, गीत, बनड़े, बनड़ियाँ, रामकृष्ण संबंधी कविताएँ, हरिजस, भजन, सवैया, कवित्त आदिक प्रसिद्ध हैं। **समानबाई** हणूँतिया के पालावत रामदयालजी से ब्याही थीं। ये प्रसिद्ध **उमेदरामजी** (उमेददानजी) के वंशज थे जो अलवर में जा बसे थे। इन समानबाई की और उमेदरामजी की कविताएँ अलवर में उन्हीं के वंशजों के पास प्रायः हैं। हमारे संग्रह में भी कुछ हैं। बालाबख्शजी के छोटे भाई शिवबख्श बालपन में ही मर गए थे। और डाल तथा साल इनके भाई दूसरी माता से थे। इनके चार बहिनें थीं।—१ दूलबाई जो हरमाड़े ही ब्याही थी, २—ऊदाबाई नांगल में, ३—बिनोदबाई खेड़ी में, और ४—जड़ावबाई लछमणपुरे में। इनके बड़े मामा कविया **गोपालजी** थे जिनके बनाए ग्रंथ १—"शिखरवंशोत्पत्ति पीढीवार्त्तिक" (जो "बा० रा० चा० पुस्तकमाला" में छप चुका); २—"लावारासा", "माधवयशवर्णन" कविता, गीत छंद आदिक हैं। उक्त समानबाई, पालावत रामदयालजी बालाबख्शजी के चचा से, ब्याही थी। यों यह समानबाई बालाबख्शजी की माँवसी (मा की बहिन) और चाची भी होती थी। रामदयालजी उमेदरामजी के प्रपौत्र थे। समानबाई को उनके पिता रामनाथजी ने खूब पढ़ाया था*। और

* कविया रामनाथजी के रचे हुए—१—पाबूजी के दोहे, २—द्रोपदी के दोहे आदिक गीत छंद हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्य विद्वानों से भी पढ़ी थी। समानबाई अपने पति के सामने सुहागिनी ही संवत् १९४० में मर गई थी और उनके पति उनसे ९ वर्ष पीछे संवत् १९४९ में गुजरे थे। समानबाई का एक सवैया उनकी कविता के उदाहरण में देते हैं।

"भवसागर नीर भर्‌यो त्रसना तिंहिं,
मध्य में मोह है ग्राह भयंकर।
जीव गयंद रु आसा त्रिषा,
स्वकुटुंब मनोरथ संग भयो भर॥
मोह के फंद पर्‌यो वश कर्म ते,
हाल सकै नहिं चाल गयो गर।
भो घनश्याम! "समान" कहै,
करिए अब व्रेग सहाय लगै डर"॥ १॥

समानबाई ने विवाहादिक के अनेक गीत बनाए हैं जिनके अंदर भाव श्रीकृष्ण और श्रीरामचंद्र का ही रक्खा है। यथा :—

"राजा जनकजी के द्वार (महल) रघुबर रमड रह्या छैजी।
... ... (इत्यादि)

(जिला की चाल पर। राग मांढ।)

"बनों म्हाँने प्यारो (बालो) लागे ए। ए मा ए!
दशरथ राजकँवार। बनो म्हाँने प्यारो लागे ए"॥
... ... (इत्यादि)

बालबख्शजी के परदादा उमेदरामजी (उमेददानजी) पालावत राजस्थान में एक प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। इनकी ख्याति सुन अलवर के रावराजा बखतावरसिंहजी ने इनको अपने यहाँ बुलाकर रख लिया था, और उनका बहुत मान-सत्कार किया था, और जीविका दी थी। उमेदरामजी ने बहुत से अच्छे-अच्छे ग्रंथ बनाए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थे। ये डिंगल और पिंगल दोनों में सुमधुर और सरल सरस कविता करते थे। इनके कुछ ग्रंथों के नाम:—

(१) बाणीभूषण (मुद्रित)। (२) राजनीति चाणक्य (मुद्रित)। (३) रामचंद्रजी की राजनीति। (४) अवध-पच्चीसी। (५) मिथिला-पच्चीसी। (६) जनकशतक। (७) बिहारी सतसई की टीका। (८) कविप्रिया की टीका। (९) **मरसिया** बखतावरसिंहजी। (अलवर के राजा बखतावरसिंहजी के एक "**मूसी**" पासबान थी। यह बड़ी पतिव्रता और बुद्धिमती थी। संवत् १८७१ में बखतावरसिंहजी के देवलोक होने पर यह उन पर सती हुई थी। उसी के ये प्रसिद्ध मरसिए हैं। इसी मूसी के पुत्र नामी बलवंतसिंहजी बड़े शूरवीर, दानी, विद्वान् और चतुर हुए जिनको दो लाख की आय का तिजारे का परगना गवर्मेंट की आज्ञा से मिला था और दो लाख वार्षिक रोकड़ अलवर से मिलता था। जैसे विनयसिंहजी राजस्थान में बुद्धिमान् और यशस्वी हुए, वैसे ही ये बलवंतसिंहजी भी तिजारे में हुए थे*। उमेदरामजी के ग्रंथों का संग्रह हमारे पास भी है, और अलवर आदिक स्थानों में भी है। इनका प्रकाशन समय पाकर हो सकेगा। इनका जन्म संवत् १८०० में हुआ था और मृत्यु सं० १८७८ में हुई थी। बखतावरसिंहजी की सभा में ये एक गण्यमान्य कवि थे। और इनके ग्रंथ चारण-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं।

बालाबख्शजी ने अपने वंश का सुविस्तृत वर्णन स्वयं लिखा था जो उनके ग्रंथों में विद्यमान है। क्या ननिहाल में और क्या निजकुल में, इनके बड़े पुरुष सदा से नामी कवि और यशस्वी

---

(१) नोट—"अज़ंगे-तिजारा" नामक तिजारे के इतिहास में इनका हाल है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होते चले आए हैं। इसी का प्रभाव था कि वंशीय रुधिर-संचार ने इनको भी इतना बड़ा बना दिया।

बालाबख्शजी बाल्यावस्था ही से तीव्रबुद्धि, हौसलेवाले और होनहार थे। पहिले अपने पिता से पढ़े। फिर देवीदानजी कविया से अपने ननिहाल में। ये देवीदानजी अच्छे कवि थे और इनके कुटुंबी मामा होते थे।

बालपन

फिर मुकुंदरामजी तामड़ायत मिश्र से संस्कृत और धर्म-ग्रंथ पढ़े तथा खेमदासजी दादूपंथी से (जो हणूँतिया के ही रहनेवाले थे) अनेक भाषा ग्रंथ और रीति-काव्य पढ़े। छंद, अलंकार, काव्यों के सब अंगों आदि में बालाबख्शजी की अच्छी गति हो गई थी। कविता ओजस्विनी बनाने लग गए थे। स्मृति भी अच्छी थी। वाणीरस (गालीरस) इनका सराहनीय हो चला था। छंद-गीत बोलते झड़ बँध जाता था। उच्चारण बहुत स्पष्ट था। एक तो रूप के सुंदर, शरीर सुढार और स्वस्थ, फिर विद्या का बल और कंठ सुमधुर और वाणी में ज़ोर। ये सब बातें ऐसी थीं कि जिन्होंने इनको शीघ्र ही ख्याति में ला पहुँचाया। रावजी मनोहरपुर के ये बहुत प्रिय और विश्वस्त हो चले। अन्य ठिकानों में भी आने जाने लगे थे।

इनका पहिला विवाह वैशाख सुदी ११ सं० १९३२ में (बीस वर्ष की अवस्था में) गाँव **खिडवाल्या** (परगना पर्वतसर—राज्य मारवाड़) के खिड़िया गोत के चारण **बखतावरजी** की पुत्री **जसकुँवरी** से हुआ था।

विवाह

इनके एक साला **भैरजी** नाम का था। इस स्त्री से इनको कोई संतान नहीं हुई। स्त्री से गण-विरोध हो गया। इस कारण कुछ सुख नहीं मिला। फिर दूसरा विवाह मार्गशीर्ष सं० १९६४ (बावन वर्ष की उम्र) में, इन्होंने भोजासर गाँव की ढाँणी के **चतरजी** कविया चारण की पुत्री **प्यारकुँवरी** के साथ कर लिया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संतान की कामना फिर भी पूरी नहीं हुई। यह दूसरी स्त्री ११ वर्ष ही पति का सुख भोगकर सं० १९७५ में महामारी रोग से मर गई। बड़ी स्त्री जीवित है।

संसार-यात्रा

बालाबख्शजी गीत छंद और कविता कर सरदार लोगों को रिझानेवाले ही चारण नहीं थे, वरन ये नीति-निपुण और कार्य-कुशल भी थे। इनकी बुद्धिमानी से प्रसन्न होकर रावजी मनोहरपुर ने इन्हें अपने ठिकाने का काम सौंप दिया था। इन्होंने कई वर्षों तक भली भाँति काम किया। परंतु इनकी प्रकृति स्वतंत्रता की ओर अधिक झुकी रहती थी। और इनको पिशुन और दुराचारियों का प्रसंग बहुत कम सुहाता था। सरदार लोगों को ये खरी कह देते। यह इनका स्वभाव था। जमानासाजी इनमें नहीं थी। इसी से उस काम को छोड़ना पड़ा। फिर ये गुहाला के ठाकुर भोपालसिंहजी के आग्रह से उनके ठिकाने का काम करने लगे। वहाँ का काम अच्छा जमाया। ठाकुर साहब ने प्रसन्न होकर इनको ५००९ बीघा जमीन उदिक में निकाल दी और बड़े मान-सत्कार से इनको रखा। स्व० ठाकुर भोपालसिंहजी काव्य-प्रेमी और कवियों का आदर करनेवाले और गुणियों के गुणग्राहक थे। वे दानशील भी थे और पुरानी चाल के अच्छे सरदार थे। दानशीलता के कारण उनके ऊपर ऋणदेव की अधिक कृपा हो गई थी। इस बात को बालाबख्शजी ने रोकना चाहा। तब ठाकुर को यह बात अप्रिय लगी। बालाबख्शजी स्वामि-भक्ति के धर्म से इस चाल को प्रतिकूल समझते थे। वे नाहक के खाने को बुरा समझते थे। ठिकाने पर ऋण बढ़ाकर दातारी जारी रखना उनको पसंद नहीं आया। लाचार उस काम को भी विवश होकर छोड़ना पड़ा। इनका बहुत सा रुपया ठाकुर के जिम्मे बाकी रह गया। लाभ के बदले हानि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही उठानो पड़ी। जिसका नमक खाया उसी पर नालिश करना धर्म-विरुद्ध जानकर उस धन को तिलांजलि दे दी। भोपालसिंहजी के उत्तराधिकारी ठाकुर सगरामसिंहजी से इनकी और भी अनबन हो गई। वह रुपया गया सो गया, उलटे यह और हुआ कि उदिक दी हुई ५०० बीघा भूमि भी गई। उक्त ठाकुर ने इस उदिक को जब्त कर लिया। जमीन के साथ साथ दो कोठियाँ भी गईं जिनको इन्होंने उस जमीन में बनवाया था। इस प्रकार इन दोनों ठिकानों में इनको लाभ तो थोड़ा पर हानि अधिक हुई।

बालाबख्शजी का व्यवहार बहुत से सरदारों से था। सभी इनकी बड़ी इज्जत करते थे। मलसीसरवाले ठाकुर **भूरसिंहजी**

इतिहास का कार्यारंभ

शेखावत जयपुर में एक प्रसिद्ध इतिहासप्रेमी, साहित्य-रसिक, सज्जनता की मूर्त्ति, सरलता और शील के सच्चे निर्वाहक तथा गुणियों के ग्राहक सरदार हुए हैं। उनके साथ बालाबख्शजी का बड़ा भारी स्नेह था। इसी प्रकार परम प्रसिद्ध ज्ञान-प्रेमी ठाकुर **हरिसिंहजी** लाड़खानी के साथ प्रीति थी। जयपुर में इतिहास के संग्रह करने और ख्यातों को इकट्ठा करने तथा राजनीति में निपुणता के धारण करनेवाले ठाकुर फतहसिंहजी के भ्राता ठाकुर **जोरावरसिंहजी** महाराजा श्रीरामसिंहजी की सभा में बहुत प्रसिद्ध थे। महाराजा श्री माधवसिंहजी के सामने भी इनकी वैसी ही न्यूनाधिक बात रही। इन ठाकुर साहिब के साथ बालाबख्शजी का घनिष्ठ प्रेम हो गया और इनको इतिहास-संग्रह और ख्यातों के बटोरने में बालाबख्शजी ने बहुत सहायता दी। इसी प्रकार उनके सुयोग्य और विख्यात पुत्र **नारायणसिंहजी** से भी इनका स्नेह हो गया था जो इनकी बहुत खातिर और प्रतिष्ठा करते थे। इन्होंने दान के लिये जो द्रव्य एकत्र किया था वह प्रायः इन्हीं की रक्षा में रहा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करता था। सो सब उनसे लेकर दानों में लगा दिया। ठाकुर जोरावरसिंहजी इतिहास के विषय में एक प्रामाणिक पुरुष माने जाते थे। इनके पास ऐतिहासिक कार्य करने से बालाबख्शजी की भी इतिहास की जानकारी बढ़ गई और तभी से इतिहास के विषयों में इन्होंने कई लेख और प्रबंध लिखे और कविताएँ बनाईं। परस्पर के ज्ञान-व्यवहार से उभय पक्ष को इस विषय में लाभ हुआ। यद्यपि उस समय खोज ("रिसर्च") की आज-कल की नूतन पद्धति नहीं प्रचलित थी फिर भी कई बातों का, अनुसंधान से, स्पष्टीकरण हुआ। जयपुर राज्य का कोई शृंखलाबद्ध इतिहास नहीं है। इसी अभाव को दूर करने के लिए बालाबख्शजी ने ठाकुर जोरावरसिंहजी के साथ कार्य करके कुछ कर दिखाया और इतिहास-संग्रह तथा इतिहास-ज्ञान में उक्त ठाकुर साहब और इन बारहटजी ने नाम पाया। इतिहास के अभाव में यह रियासत अभी तक सबसे आगे बढ़ी हुई है। टाड साहब के पूर्व से लगाकर, टाड साहब के इतिहास-निर्माण के समय तक, कविराजा श्यामलदासजी के "वीरविनोद" के लिखे जाने के समय तथा अब तक भी यहाँ की दीर्घसूत्रता और बेपरवाही न्यूनाधिक चली ही आ रही है। यहाँ तक कि उस निरुत्साह का अनुभव पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा को भी हो चला है। बूँदी, उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर और अलवर तक में इतिहास-कार्यालय बनाकर कुछ काम किए गए हैं। संभव है, ऐसा सुदिन यहाँ भी हो। इसी कमी को दूर करने में उभय इतिहास-प्रेमियों ने जो यत्किंचित् चेष्टा की थी, वह परम श्लाघनीय है। "अकरणान्मंदकरणं श्रेष्ठम्" कुछ नहीं से तो जो कुछ हो जाय वही भला। दुःख इसी बात का है कि न तो ठाकुर जोरावरसिंहजी ही रहे और न बारहट बाला-बख्शजी ही!

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन दिनों दो-एक विद्वानों ने इतिहास का कुछ नाममात्र सा काम किया है। महाराजा ईश्वरीसिंहजी का कुछ इतिहास निकला है। कछवाहों के दो छोटे इतिहास निकले परंतु दोषों से भूषित हैं। ठिकाने खेतड़ी और ठिकाने सीकर के छोटे छोटे इतिहास भी प्रकाशित हुए। अब शेखावाटी के इतिहास-संग्रह का उद्योग तत्परता से चल रहा है। इधर **मि० विल्स साहब** की तहकीकात ने कई अज्ञात बातों को प्रकाश में लाने का सूत्रपात किया। जाटों के इतिहास ने वृथा की विडंबना और अनेक निराधार बातों की भरमार कर दी। ऐसे समय उक्त युगल इतिहास-रसिकों का अभाव दिल में काँटे सा खटकता है। और इससे अधिक कुछ तद्विषयक रसिकों के भी उठ जाने से, तथा जो इस विषय में प्रीति रखते हैं और वर्त्तमान हैं उनकी निरुत्साहता से "दिल का दर्द दोबाला' होता जाता है। प्रोफेसर यदुनाथ सरकार ने अपने वास्तविक उद्योग से बहुत सी सामग्री जयपुर से तैयार कराई। इस प्रकार का काम यहाँ के जोरावरसिंहजी अथवा बालाबख्शजी के या स्व० बारहट रामनाथजी रत्नू के हाथ में दिया जाता तो कितना लाभ होता। अब वे लोग कहाँ से आवें? दो-तीन साहब लोगों ने (**टाड साहब** के अतिरिक्त **ब्रुक साहब** वा **स्ट्रेटन साहब, कर्नेल ब्रावस साहब** वा **कर्नेल बेन साहब** आदि ने) जो छोटे छोटे लेख वा ग्रंथ—स्व० पं० गोपीनाथजी के उद्योग से—लिखे हैं वे पूर्ण इतिहास के अधिक उपयोगी नहीं हो सकते।

निदान इतिहास के क्षेत्र में भी स्व० बालाबख्शजी ने निज शक्ति और समयानुसार हमारे लिये काम किया था। यह काम उनका हमारे 'सर्किल' में चिरस्मरणीय रहेगा, जैसे स्व० बारहट रामनाथजी रत्नू का "इतिहास राजस्थान"। इतिहास का बनाना,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रखना और प्रकाश में लाना चारण जाति का जन्म-स्वत्व है। इसी की रक्षा इन दोनों स्व० योग्य चारण विद्वानों ने की थी।

बालाबख्शजी का व्यवहार और प्रेम राजाजी खंडेला छोटा पाना, ठाकुरान नवलगढ़ मंडावा आदि के साथ भी अच्छा रहा है। इनके सत्संग और प्रभाव से ठिकानों में विद्या की ओर रुचि बढ़ी है। काव्य और इतिहास का प्रेम सरदार लोगों में जागृत हुआ है। बारहटजी मेल-जोल, प्रेम-व्यवहार में बड़े कुशल थे।

कई ठिकानों से इन्हें नवीन जीविकाएँ भी मिली थीं और कई से पहले की मिली भी रहीं सो चली आईं। इस जमाने में कुछ

जीविकाएँ

सरदारों ने अपने बड़ों की निकाली हुई जमीनों को छीन लेने का व्यापार सा कर लिया है, यहाँ तक कि ग्रहणों में दी हुई उदिकों तक को वे खोसखाने में नहीं हिचकिचाए हैं—अनेक दीन ब्राह्मणों और असहाय विधवाओं को उनके प्राचीन भूमिखंडों से विरहित कर उनके शापों के भागी हुए हैं। दो-एक ठिकानों से इनकी भी उदिकें उतार ली गईं। तदर्थ इन्होंने जयपुर राज्य में मुकद्दमे भी लड़े। अपने बपौती के गाँव और जन्मभूमि हणूँतिया में इनका ४८वाँ हिस्सा बताया जाता है। वहाँ भी हिस्सेदारों से इनका विरोध रहा है। चारणवास में, खंडेलावाटी में बास रामदास, सीकरवाटी में रावजी की धरती में बैरास, ठिकाने खेतड़ी में भाटीवाड़ बाढ़, ठिकाने अलसीसर में ढील-सर का बाढ़, ठिकाने सूरजगढ़ में ख्यालयासी का बाढ़ इत्यादि इनके रहे हैं। गुहाले की उदिक का छिन जाना ऊपर लिखा ही गया है।

बारहट बालाबख्शजी ने परमार्थ में धन लगाया है। अपने

परोपकार के कार्य

गाँव हणूँतिया में कुवाँ सुधरवाया और उस पर सदा के लिये प्याऊ लगा दी जिसके निर्वाह के लिये, जैसा कि ऊपर लिख आए हैं, १०००) रु० बैंक में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जमा कर दिया; मुसाफिरों के आराम के लिये धर्मशाला के रूप में दो मकान बना दिए, पाबूजी का देवालय (थान) बनाया, माताजी का मंदिर बनाया तथा बावड़ी की मरम्मत कराई। इसी प्रकार और भी अच्छे काम किए। परंतु बालाबख्शजी को कुछ ऐसा ग्रह पड़ा हुआ था कि इनके साथ किसी न किसी का कुछ विरोध बना रहता, जिससे इनको एक-आध मुकद्दमा चलाना ही पड़ता और इस काम के लिये इनको राज्य के न्यायालयों, निजामतों वा तहसीलों में जाना पड़ता। परंतु इन कामों से वे न तो तनिक भी चिंताग्रस्त होते और न कुछ घबराते ही थे। अन्य असहाय लोगों के मुकद्दमों में भी ये सहायता देते रहते थे।

बारहट बालाबख्शजी को डिंगल तथा पिंगल दोनों में कविता का प्रेम और अभ्यास था। उनके संग्रह में उनकी जो रचनाएँ कविया श्री बारहट मुरारिदानजी अयाचक जयपुरवालों के पास रक्षित हैं, उनमें से नीचे लिखों के नाम दिए जाते हैं—

साहित्य-प्रेम और ग्रंथ-रचनाएँ

(१) अश्वविधान-सूचना। (२) भूपाल-सुजस-वर्णन। (३) आसीस-विगतावली। (४) आसीस-अष्टक। (५) आसीस-पचीसी। (६) षट्शास्त्र-सारांश। (७) खंडेला पाना खुर्द की वंशावली। (८) शस्त्रविधान-सूचना। (९) शस्त्र-प्रकाश। (१०) शास्त्रसार। (११) संध्योपासना-उत्थानिका। (१२) क्षत्रिय-शिक्षा-पंचाशिका (मुद्रित)। (१३) छंद देवियों के। (१४) छंद राजाओं के। (१५) राव राजा माधवसिंहजी सीकरवालों का स्मारक काव्य। (१६) मान-महोत्सव-महिमा। (१७) मरसिया ठाकुर जोरावरसिंहजी का। (१८) शोक-शतक। (१९) कछावों की खाँपें और ठिकाने। और कई छंद, कवित्त, गीत आदि प्रस्ताविक वा छूटक (फुटकर)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी हैं। इनके पुस्तक-संग्रह का बड़ा विभाग उक्त बारहटजी की रक्षा में है। कुछ हणूँतिया में भी है। कुछ लोगों के पास भी रह गया। इनमें से क्षत्रियशिक्षा-पंचाशिका और दो-चार ग्रंथ छपे भी हैं, शेष अमुद्रित ही हैं। इन सबका मुद्रण, प्रकाशन "बा० रा० चा० पुस्तकमाला" में शीघ्र ही कराने का उद्योग किया जायगा। ऐसा होना आवश्यक भी है, क्योंकि ये ग्रंथ उनके चिरस्थायी स्मारक हैं, तथा निज-संस्थापित पुस्तकमाला में उन्हीं के ग्रंथादि न छपें तो उसका होना न होना एकसा है। बालाबख्शजी के रचित ग्रंथादि का विवरण यहाँ दिया जाना आवश्यक नहीं समझा गया; क्योंकि ये सब उनकी संस्थापित उक्त पुस्तकमाला में प्रकाशित होंगे ही। उस प्रकाशन की भूमिका में जो विवरण आवश्यक वा उचित होगा, दिया जायगा।

बारहट बालाबख्शजी का स्वास्थ्य प्रायः अच्छा ही रहता था। वे भोजन भी अच्छा और अच्छी तरह कर लेते थे। इधर कुछ वर्षों से उनका शरीर निर्बल और कभी कभी कुछ रुग्ण भी रहता था। वर्ष डेढ़ वर्ष से तो शारीरिक क्षीणता यहाँ तक अधिक होती चली गई कि, निर्बलता के कारण, दो-एक दफे गिर भी गए। इन दिनों अधिकतर कविया मुरारिदानजी अयाचक साँडियों के टोबेवालों के स्थान पर ही ठहरे रहे। निर्बलता बढ़ती देखकर आप ही अपने गाँव हणूँतिया चले गए। किसी दवा से कुछ ठीक लाभ नहीं हुआ। अंत में यह दानशील, कृतविद्य, व्यवसायी बारहटजी इस असार संसार को, मिती वैशाख शुक्ला ११ एकादशी मंगलवार संवत् वि० १९८८—मु० तारीख २८ एप्रिल सन् १९३१ ई०—को अपने घर में, छोड़कर परलोकगामी हो गए। राजस्थान का एक नामी चारण सरदार, नक्षत्रवत्, अस्त हो गया जिसका स्थान अब

अंतावस्था

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्ण होना, इस कराल काल में, असंभव है। बारहट बालाबख्शजी स्वभाव के बड़े सरल, सच्चे, गंभीर, स्पष्ट और सौजन्य-पूर्ण थे। बड़े ही मिलनसार, सभा-शृंगार, काव्य-मर्म-ज्ञाता से प्रसन्नता-पूर्वक बात करनेवाले, उत्तम भाषण और उच्चारण करनेवाले थे। उनकी रचनाओं से उनकी संस्कृतज्ञता स्पष्ट है। उनकी ऐतिहासिक जान-कारी उनके लेखादि से प्रकट होती है। कविता भी अच्छी करते थे। चाहते तो कोई बड़ा ग्रंथ भी बना देते परंतु ऐसा अवसर ही उनको प्राप्त नहीं हुआ। "वंशभास्कर" पर टिप्पणी करने की इच्छा, दो-तीन बार हमारे सामने भी, प्रकट कर चुके थे। परंतु यह काम कितना बड़ा था और इसके लिये कितनी सामग्री चाहिए सो इस ग्रंथ के पढ़नेवालों से अविदित नहीं है। और भी कई एक ग्रंथों—"लावारासा" आदि—पर टीका-टिप्पणी करने का विचार किया करते थे। हमारे संगृहीत लावारासा को इसी विचार से अपने गाँव साथ ले गए थे, परंतु कुछ न कर सके और वह ग्रंथ वहीं खो गया।

बालाबख्शजी के शांत हो जाने के पीछे उनके दत्तक पुत्र के साथ उनके रिश्तेदारों ने मुकद्दमे किए और अभी तक कोई यथेष्ट निर्णय पर नहीं पहुँचे हैं। यह बात बहुत देखने में आई है कि निःसंतान मर जानेवालों के पीछे कभी कभी ऐसे वाद-विवाद हो जाते हैं। धन, जायदाद और स्थानादि ऐसे ही आकर्षक होते हैं।

चाहे जो हो, हमारे चरित्रनायक **अपना नाम**, ऐसे उत्तम दानादि के कार्य करके तथा ग्रंथादि रचकर, **अमर कर गए**। उनके उत्तराधिकारी जिस प्रकार मनुष्य हैं उसी प्रकार उनके उत्तम काम भी हैं—जिनको देखकर चरितनायक की याद बड़े माहात्म्य, गौरव और अभिमान से आ जाती है और आती रहेगी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह लेख स्व० बारहटजी के पत्रों, ग्रंथों और बारहट श्री मुरारिदानजी कविया अयाचक तथा बा० बालाबख्शजी के पुत्र के दिए नोटों से एवं हमारे निज के अनुभव से लिखा गया है[1]।

---

(१) यह लेख सन् १९३१ ही में लिखा गया था। परंतु इसमें कई बातें उक्त स्व० बारहटजी के पुत्र के बताने तथा बा० मुरारिदानजी के परामर्श पर भी छोड़ी गई थीं। ऐसे ही कई कारणों से यह लेख समय पर मुद्रण को नहीं भेजा गया।—लेखक।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग १७—संवत् १९९२

संपादक

श्यामसुंदरदास

सहायक संपादक

कृष्णदेवप्रसाद गौड़

—:※:—

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Printed by A. Bose, at the Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेख-सूची

विषय — पृ० सं०

१—ग्वालियर के राजवंश की उत्पत्ति [लेखक—महामहोपाध्याय रायबहादुर श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर] १

२—देवनागरी और हिंदुस्तानी [सभा के ४३वें वार्षिक विवरण से उद्धृत] १७

३—हिंदी भाषा और नागरी लिपि [लेखक—डाक्टर धीरेंद्र वर्म्मा, एम० ए०, डी० लिट्०, प्रयाग; अनुवादक—श्री वाचस्पति उपाध्याय, बी० ए०, काशी] ... ३७

४—विविध विषय ५५

५—सूफियों की आस्था तथा साधन [लेखक—श्री चंद्रबली पांडेय, एम० ए०, काशी] ६१

६—क्या 'खड़ी बोली' गँवारू बोली के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ? [लेखक—डाक्टर टी० ग्राहम बेली, लंदन; अनुवादक—श्री रमाकांत मिश्र, काशी] ... १०५

७—बनारसी बोली का तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक व्याकरण [लेखक—श्री वाचस्पति उपाध्याय, एम० ए०, काशी] १२३

८—महाभारत के 'एडूक' [लेखक—श्री लल्लीप्रसाद पांडेय, काशी] २४७

९—क्या उत्तरकांड वाल्मीकि-रचित है ? [लेखक—श्री हृदयनारायण सिंह, बी० ए०, काशी] ... २५९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृपया इस ग्रन्थको निम्नांकित तिथि पर या उसके पूर्व

विषय पृ० सं०

१०—मेरठ के आसपास के व्यापक क्षेत्रवाले प्रचलित मुहावरे, उनका वर्गीकरण, उनकी व्याख्या तथा साहित्यिक उपयोगिता [लेखक—श्री रामराजेंद्रसिंह वर्म्मा, एम० ए०, मेरठ] २६१

११—भारतेंदुजी की भाषा और शैली [लेखक—श्री गोपाललाल खन्ना, एम० ए०, काशी] ३८७

१२—विविध विषय ४७३

१३—उत्तरकांड और श्री वाल्मीकि-रामायण [लेखक—ब्रह्मचारी श्री भगवदाचार्य, बड़ोदा] ४८६

१४—स्वर्गीय बारहट बालाबख्शजी पालावत [लेखक—पुरोहित श्री हरिनारायण शर्मा, बी० ए०, विद्याभूषण, जयपुर] ५०१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधारण अधिवेशनों की

सौर सं० १९९४

वैशाख मास में	...	शनिवार	२५ वैशाख
ज्येष्ठ ,,	...	,,	२९ ज्येष्ठ
आषाढ़ ,,	...	,,	२९ आषाढ़
श्रावण ,,	...	,,	२९ श्रावण
भाद्रपद ,,	...	,,	२९ भाद्र
आश्विन ,,	...	,,	३० आश्विन
कार्तिक ,,	...	,,	२७ कार्तिक
मार्गशीर्ष ,,	...	,,	२५ मार्गशीर्ष
पौष ,,	...	,,	२४ पौष
माघ ,,	...	,,	३० माघ
फाल्गुन ,,	...	,,	२८ फाल्गुन
चैत्र ,,	...	,,	२९ चैत्र

कृ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi